THE CONCEPT OF BHAKTI IN THE VISHISTADVAITA OF RAMANUJA

(रामानुज के विशिष्टाद्वैत में भक्ति का सम्प्रत्यय)

(शोध - प्रबन्ध)

2001

प्रस्तुतकर्ता :

रामेन्द्र सिंह
दर्शन-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

निर्देशक :

डॉ० रामलाल सिंह
पूर्व प्रोफेसर, दर्शन-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

दर्शन-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विषयानुक्रमणिका

1- आमुख v - vii

2- भूमिका 1 - 9

प्रथम-अध्याय

3- दक्षिण-भारत में वैष्णव-भक्ति तथा रामानुज 10 - 28

(i) आलवार परम्परा : एक विहंगम दृष्टि

(ii) आचार्य परम्परा

(A) नाथमुनि

(B) यामुनाचार्य

(C) आचार्य रामानुज

द्वितीय-अध्याय

4- रामानुज-पूर्व पौरस्त्य-चिंतन में भक्ति 29 - 59

(i) वेदों में भक्ति

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति

(iii) आरण्यकों में भक्तितत्त्व

(iv) उपनिषदों में भक्ति

(v) पौराणिक आख्यानों में भक्ति

(vi) रामायण एवं महाभारत में भक्तितत्त्व

(vii) पाञ्चरात्र आगमों में भक्ति

(viii) नास्तिक दर्शनों में भक्ति

(ix) भक्ति सूत्रों में भक्ति-तत्व

(x) अद्वैत-वेदान्त में भक्ति-तत्व

तृतीय-अध्याय

5- ज्ञान-कर्म-भक्ति की मोक्ष साधनता 60 - 71

(i) कर्मयोग

(ii) कर्मयोग की आवश्यकता

(iii) ज्ञान की भक्तिपरकता

चतुर्थ-अध्याय

6- भक्ति और प्रपत्ति 72 - 101

(i) भक्ति क्या है?

(ii) भक्ति, ध्यान और उपासना

(iii) उपासना का स्वरूप तथा भक्ति एवं ज्ञान से सम्बन्ध

(iv) भक्ति और सेवा

(v) भक्ति के प्रकार

(vi) भक्ति के साधन

(vii) प्रपत्ति का स्वरूप

(viii) मोक्ष-साधिका प्रपत्ति एवं भक्ति से उसका स्वातंत्र्य

(ix) प्रपत्ति व इसके विविध रूप

(x) प्रपत्ति के अंग

(xi) प्रपत्ति-साधन में ज्ञान व कर्म की भूमिका

(xii) भक्ति व प्रपत्ति में अन्तर

'पञ्चम-अध्याय'

7- विशिष्टाद्वैत वेदांत में ब्रह्म एवं जीव 102 - 132

(i) ब्रह्म की सगुणता एवं वैष्णवी-भक्ति

(ii) विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन

(iii) ब्रह्म के दो रूप

(iv) ब्रह्म और जगत

(v) परमतखण्डन

(vi) अवतारवाद

(vii) विशिष्टाद्वैत-वेदांत में जीव

(viii) आत्मा-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों का रामानुज द्वारा खण्डन

(ix) आत्मा की स्वयं-प्रकाशिता

(x) आत्मा की नित्यता

(xi) अणु-परिमाणी आत्मा

(xii) अनेकात्मवाद

(xiii) जीवों के प्रकार

षष्ठम-अध्याय

8- विशिष्टाद्वैत-वेदान्त में मुक्ति 133 - 149

(i) अन्य दर्शनों में मुक्ति का स्वरूप

(ii) रामानुज की मोक्ष-सम्बन्धी अवधारणा

(iii) जीवन्मुक्ति का खण्डन

सप्तम-अध्याय

9- रामानुज का परवर्ती वेदान्त पर प्रभाव 150 - 167

(i) द्वैत वेदान्त पर प्रभाव

(ii) अद्वैत वेदान्त पर प्रभाव

(iii) शुद्धाद्वैत वेदान्त पर प्रभाव

(iv) वीर शैव सम्प्रदाय पर प्रभाव

(v) रामावत् सम्प्रदाय पर प्रभाव

अष्टम-अध्याय

10- उपसंहार 168 - 172

11- सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 173 - 176

आमुख

सम्पूर्ण पौरस्त्य-वाङ्मय उदात्त मानवीय-मूल्यों मे हमारी अटूट आस्था का ज्वलंत प्रमाण है। यही कारण है कि शेष विश्व से परे, हमने मानव-मात्र को पंचभूतो का संघातमात्र न मानते हुये उसे, उसकी आध्यात्मिकता मे समझने का प्रयास किया है। 'भक्ति' ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने को अतिमानवीय संदर्भों से जोड़ता है। 'यह भक्तितत्व भारतीय-चिन्तन की वह धुरी है, जिस के द्वारा एक ओर तो वह दु:खो, निराशाओं, वेदनाओ तथा जागतिक झझावातों से उबरने का सबल पाता है तथा दूसरी ओर अमर्ष, अहंकारादि से अतीत हो सामाजिक समरसता का हेतु बनता है। यद्यपि भक्ति का यह तत्त्व तो समग्र पौरस्त्य-चिंतन में वर्त्तमान है, परतु इसे एक सुसम्बद्ध निकाय का रूप देने में सफल हुये विशिष्टाद्वैत-वेदान्त के प्रवर्त्तक, परम-वैष्णव भगवान श्री रामानुजाचार्य, जिन्होने भक्ति को एकमात्र मोक्ष-साधन मानते हुये, इसे ज्ञान-कर्म सहकृत बताया है। अपनी अद्भुत तर्कणाशक्ति, मौलिक कल्पना तथा समन्वयी चिंतन-दृष्टि के माध्यम से आचार्यपाद ने परवर्ती समाज पर जो प्रभाव छोड़ा, वह आज भी अमिट है।

इस अत्यंत व्यापक विषय पर शोध करने की प्रेरणा मुझे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग के स्वनामधन्य प्रोफेसर, श्रद्धेय डॉ0 रामलाल सिंह जी से मिली, जो स्वय में वेदांत-पीठस्वरूप ही हैं। श्रद्धेय गुरुवर ने जो पुत्रवत् स्नेह की छॉह दी, उसी के परिणाम स्वरूप यह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत हो सका, इसमे संशय नहीं। उनका कुशल निर्देशन मेरे पिपीलिका-प्रयास को ग्रंथरूप में परिणत कर गया, इस हेतु उनके प्रति किसी भी प्रकार का कृतज्ञताज्ञापन उनके स्नेह-गौरव का विघातक ही होगा। उन्होंने मुझे इस विषय में पात्र समझा, इसके लिये मैं अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ। गुरुकृपा तथा अपने निष्ठापूर्वक परिश्रम से मैने विषयनिरूपण की आप्राण चेष्टा की है। विषय-निरूपण में मेरी सफलता या विफलता का निर्णय तो नीर-क्षीर विवेकी सुधी जन ही करेंगे, जिनके समक्ष यह शोध-प्रबन्ध सादर प्रस्तुत है।

दर्शन-विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अन्य वरिष्ठ आचार्यों के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने न केवल विगत एक दशक से मुझे स्नेह-संबल दिया, वरन् अपनी प्रखर बौद्धिकता के आलोक में मुझे अपनी चितन-दृष्टि के परिमार्जन एव विस्तारण की प्रेरणा दी। आदरणीय डॉ0 जटाशकर जी, डॉ0 नरेन्द्र सिंह जी, विभागाध्यक्ष- डॉ0 मृदुला श्रीवास्तव जी, श्रीमती आशालाल जी तथा डॉ0 हरिशंकर उपाध्याय जी के स्नेह-वितान तले मेरे चेतना आकार ले सकी, इस हेतु मेरी आत्मा कृतज्ञ है।

दर्शन-विभाग की एक वरिष्ठ रीडर डॉ0 गौरी चट्टोपाध्याय ने, यदि सच कहूँ तो, मुझे आकार दिया है। उनकी प्रेरणा, स्नेहिल कृपा-दृष्टि तथा वैचारिक कुशाग्रता ने मुझे संवार दिया। अतएव, उनके प्रति आभार व्यक्त करना अवमानना होगी।

वस्तुत. मुझे आस्तिक-दृष्टि एव विद्या के सस्कारो मे ढालने का गौरव पूज्यनीय पिताश्री कुँवर राजेन्द्र प्रताप सिंह तथा माता श्रीमती सत्यवती सिह को जाता है, जिन्होने विभिन्न झझावातों मे घिरे रह कर भी मुझे सुरक्षित रखा। आदरणीय पिताश्री, जो स्वंय साठ के दशक के स्नातकोत्तर तथा श्रद्धेय डॉ0 रामकुमार वर्मा के प्रिय शिष्यो में रहे है, ने जिन विपरीत परिस्थितियों में भी वरिष्ठ सामाजिक-राजनीतिक चितक की प्रतिष्ठा अर्जित की है, वह मेरे लिये सदैव प्रेरणा का स्रोत रहेगी। वे हर आपदा में मेरे सुरक्षा-कवच रहे हैं। यदि उनका कुछ अश भी अपने में उतार पाया तो स्वय को कृतकृत्य समझूँगा।

मेरे शेष परिजनों, जिनमें अग्रज कुँवर मृगेन्द्र सिह, प्रवक्ता (हिन्दी) अन्यतम हैं ने जिस प्रकार मुझे पुत्रवत् स्नेह दे उत्साहित किया, उसके प्रति मै हार्दिक कृतज्ञता और नमन अर्पित करता हूँ। आदरणीय श्री लालता प्रसाद जी पाण्डेय के प्रति मैं नमन व्यक्त करता हूँ जिन्होंने पितृव्य की भूमिका में रहकर मुझे वैचारिक समृद्धि दी है। अपने परम मित्रो डॉ0 गोरखनाथ पाण्डेय, जो संप्रति, प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में अध्ययन कर रहे हैं, निषाद मधुरमय तथा तरनजीत सिंह (टोनी) का मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके सहयोग तथा परामर्श के अभाव में यहाँ तक पहुँचना शायद ही संभव हो पाता।

मेरे शोध-प्रबन्ध की पूर्णता मे मेरे प्रिय अनुजो चिरंजीव अजय सिंह, शिक्षक, संजय यादव तथा धीरज सिंह ने जो योगदान दिया है वह अविस्मरणीय है। इनके प्रति मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। इसके अतिरिक्त, मेरी अद्यपर्यन्त वैचारिक निर्मित मे हेतु बनने वाले उन समस्त विद्वज्जनो तथा ज्ञाताज्ञात सुहृदों के प्रति मै हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनका नामोल्लेख स्थानाभाववशात् नहीं हो पा रहा है।

और अंत में, अपने मित्र आलोक वर्मा तथा टङ्कक अनुज, गौरव श्रीवास्तव का मै हार्दिक आभारी हूँ जिनके सक्रिय तथा एकाग्र सहयोग के बिना इस महत्कार्य का साधन हो ही नहीं सकता था। विशेषत:, गौरव ने जिस तन्मयता से टङ्कण का कार्य किया है, उसके लिए मेरे पास शुभकामना तथा आशीर्वाद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

अब मॉ शारदा को शिरसा नमन करता हुआ मै इस शोध प्रबन्ध को, विद्वान समीक्षकों के सम्मुख नीर-क्षीर-विवेक हेतु प्रस्तुत करता हूँ।

21, दिसम्बर, 2001
प्रयागराज.

रामेन्द्र
(रामेन्द्र सिंह)

॥ भूमिका ॥

सम्पूर्ण विश्व वाङ्मय मे मानवीय मूल्य एव मानव के हृदय–गत भावो को ही विविध शैलियो मे व्यंजित किया गया है। इन्ही मानवता के पोषक भावों मे अन्यतम एक भाव है–भक्ति। यह भक्तितत्व अतुल साहित्य–राशि का केन्द्रीय अन्तर्वर्त्ती सूत्र है। यह न केवल वचितो, दरिद्रो, पापियो, प्रताडितो की मुक्ति का अद्वितीय सबल है, वरन् महाकुबेरो, महाबलियों, पुण्यात्माओ तथा मनीषियो के हृद्गत कलुष का प्रक्षालक भी। सम्पूर्ण भारतीय वाड्मय इसी भक्तितत्त्व की प्राणवायु से जीवन को अर्थर्वत्ता दिये हुये है। इस दृष्टिकोण से इस तत्व को 'पञ्चम–पुरूषार्थ' की सज्ञा दी जा सकती है।

पौरस्त्य–चितन मे लिखित साहित्य के प्रथम साक्ष्य 'ऋग्वेद' से मिलते है। यही भक्तितत्व भी अपने मूलरूप मे व्यक्त होता है। विविध देवो की उपासना, उनकी स्तुति, प्राकृतिक–अतिमानवीय शक्तियो के प्रति समर्पण की भावना, इन सभी शक्तियो के प्रति अनुराग भाव तथा सार्वभौम मङ्गलकामना से प्रेरित होकर, उनके प्रति, रखा गया श्रद्धा भाव इसी 'भक्ति–तत्व' की ओर सकेत करते है।

अन्य वेदो तथा उपनिषद–ब्राह्मणों मे भी यह तत्व मन्त्रगानो एव गम्भीर मानसिक–अर्चनाओ के रूप मे विवक्षित हुआ है। वस्तुत· अनादिकाल से मानव–मनीषा दृश्यमान प्रपच के रहस्यात्मक तथ्यो के मूल को जानने के निमित्त व्यग्र रही है। जानने की इसी व्यग्रता ने जागतिक–संदर्भो मे विविध आविष्कारो को जन्म दिया है। जब कभी भी कोई घटना या तथ्य मानवीय बुद्धि की सीमा से परे हो जाता है, तो मनुष्य सहज ही प्रकृति की उस विस्मयकारी 'वस्तु' के समक्ष श्रद्धावनत हो जाता है तथा उसे दैवी शक्ति का रूप मानने लगता है। सृष्टिकाल के प्रारम्भ से ही प्रकृति के विभिन्न रूपो–यथा अग्नि, जल, वायु आदि की पूजा के मूल मे मनुष्य की यही स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। इसी स्वाभविक प्रवृत्ति का ही विकसित रूप श्रद्धा, वैदन, उपासना, ध्यान और भक्ति है।

भक्ति के उद्गम को लेकर पाश्चात्य विद्वानों के एक वर्ग ने कतिपय दुराग्रहपूर्ण

तर्कों के माध्यम से भ्राति पैदा करने का प्रयास किया है, जो ईसाई मत के सुनियोजित औपनिवेशिक दृष्टिकोण का ज्वलंत परिचायक है। 'कीथ' जैसे इन विचारको ने आग्रह किया है कि भक्ति का मूल स्रोत ईसाई–धर्म है तथा भगवान श्रीकृष्ण एवं गोपियो के महारास को ईसा मसीह के 'Love Feast' का पुनरावर्त्तन मात्र सिद्ध किया है। वस्तुत पाश्चात्य जगत के कुछ विद्वानो को छोडकर अधिकाश विद्वानों ने भारतीय इतिहास, धर्म व दर्शन आदि समस्त विषयो का अध्ययन ज्ञान के लिये नहीं अपितु दोषान्वेषण की दृष्टि से किया, जिसके आधार पर ईसाई धर्म के प्रचार को सहायता व गति मिल सके। ऋग्वेद समेत वैदिक वाङ्मय की प्राचीनता एव भक्तिमूलकता निर्विवादरूपेण सिद्ध होने के उपरात भी भक्ति को ईसाई धर्म का प्रभाव बतलाना पाश्चात्य विचारको के इसी दृष्टिकोण का फल है।

वेदो के अतिरिक्त पुराणो मे भी भक्ति तत्व की प्रमुखता से व्यंजना हुयी है। इन पुराणो मे 'भागवत् पुराण' भक्ति को ही विवेचन की धुरी बनाकर अग्रसर होता है। सम्पूर्ण भारतीय जनमानस मे व्याप्त मधुरा या रागानुगा भक्ति का मूल आधार उपर्युक्त पुराण ही है। श्रीमद्भागवत् के अनुसार व्यक्ति के जीवन का परम कर्त्तव्य भगवान श्रीकृष्ण मे अहेतुकी भक्ति है। कहा भी गया है –

'स वे पुंसा परो धर्म यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहेतुक्यप्रतिहतायमऽऽत्मा सम्प्रसीदति।।

(श्रीमद्भागवत पुराण–1/2/6)

सच्चा भक्त भक्ति के अतिरिक्त किसी भी प्रकार के मोक्ष की कामना नहीं करता। 'श्रीमद्भागवत्' मे तो भक्ति के साधनों का भी विधान है, जिनका अनुसरण करने पर भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति प्राप्य है।

भक्ति का यही स्वरूप, अपनी पराकाष्ठा में, 'विष्णु–पुराण में भी दिखाई पड़ता

है। भगवान नरसिंह द्वारा आश्वस्त किये जाने के उपरान्त प्रह्लाद कभी स्खलित न होने वाली भक्ति को ही वरदान–रूप मे मॉगते हैं। इसी प्रकार 'पद्म–पुराण मे भी भक्ति का विशद विवेचन मिलता है। 'पद्म–पुराण में भक्ति को सम्पूर्ण पापघातिनी तथा मोक्षप्रदायिनी कहा गया है तथा इसके विभिन्न वेदो पुराणो की विशद चर्चा मिलती है।

'शिव–पुराण' में भी भक्ति ही मुक्ति का हेतु मानी गई है। 'मतस्य–पुराण' मे भी भक्ति को ससार के बधन को नष्ट करने वाली और मोक्ष–साधनभूत कहा गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर कहा जा सकता है कि क्रमश सहिताओ, ब्राह्मणो व उपनिषदों मे जो भक्ति बीजरूप, अकुरित तथा वृक्ष रूप थी, वह पुराणो मे पल्लवित–पुष्पित होने लगी। भक्ति के सभी अगों का विधान पुराणो मे किया गया है।

इसके पश्चात् दो अमर महाकाव्यो का काल आता है, जिन्हे पौरस्त्य जनमानस, सास्कृतिक एव सामाजिक परिवेश का सफल निदर्शक माना जा सकता है। 'रामायण' मे यद्यपि प्रत्यक्षत भक्ति की चर्चा कहीं भी नहीं मिलती किन्तु भक्ति के अवयवो की चर्चा सर्वत्र दिखाई पडती है। यज्ञ, स्वाध्याय, जप आदि का रामायण मे अनेकश उल्लेख हुआ है। विभीषण के शरणागत होने पर भगवान राम, अपने शरणागत को एक बार अभयदान देने की चर्चा करते है।

'महाभारत' मे तो भक्ति अपने शीर्ष पर प्रतिष्ठित हो जाती है। 'महाभारत' के अगभूत 'श्रीमद्भागवद्गीता' तो पौरस्त्य विचार–ब्राह्माण्ड का 'भक्ति–महासिन्धु' है। भक्ति के पूर्ण–परिपाक का यह निदर्शक ग्रंथ निखिल विश्व की मनीषा का मेरूदण्ड है। 'गीता' मे भक्ति को ही एकमात्र ईश्वर–प्रप्ति का साधन कहा गया है–

'भक्त्या त्वनन्या शक्य अहमेवंविधोऽर्जन।

ज्ञातं द्रष्टु च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।

(गीता–9/54)

आर्त्त, अर्थर्थी, जिज्ञासु, ज्ञानी इन चार प्रकार के भक्तो की चर्चा गीता मे हुयी है। एक अन्य स्थल पर अपने सम्पूर्ण व्यक्ति बोध को तिलाञ्जलि देकर, अपनी शरण में आ जाने की प्रेरणा, अर्जुन को, देते हुये, भगवान कृष्ण कहते है –

'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेक शरण ब्रज।

अह त्वा सर्वपापेश्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।।'

इसी प्रकार 'गीता' के अतिरिक्त भी, 'महाभारत' में 'भक्ति' की अनेक स्थलो पर चर्चा आयी है। 'महाभारत' के 'शातिपर्व' के 'नारायणीयोपाख्यान' मे भीष्म युधिष्ठिर से 'भक्ति' के विषय मे विशद विवेचन प्रस्तुत करते है जिसके अनुसार भक्ति निवृत्तिपरक नही, प्रत्युत प्रवृत्तिपरक है, जो युगो के धर्म व निष्काम–कर्म का विधान करती है।

इसी प्रकार 'रामायण' एव 'महाभारत' में भी भक्तितत्व की सम्यक् अभिव्यंजना हुयी है।

'पाञ्चरात्र' आगमो मे भी भक्ति का विशद विवेचन मिलता है। पाश्चात्य–साहित्य के अतर्गत ईश्वर की पंचविधि अर्चाविधि का प्रतिपादन किया गया है। अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय व योग। पाञ्चरात्र–आगमो में ईश्वर की भक्ति ही परमपुरूषार्थ प्राप्ति का साधन है। सर्वप्रथम यहीं साकार मात्र की भक्ति सभव मानी गयी है, निराकार की नहीं, जिसे आधार बनाकर सूर, तुलसी आदि मध्ययुगीन कवि भक्तो ने निराकार पर साकार की विजय का मतस्थापन किया।

'पाञ्चरात्र–आगम के अतिरिक्त 'वैखानस–आगम' मे भी भक्ति के तत्व मिलते है। यह साहित्य भी भक्ति की सुमधुर रस–धार से सर्वथा आप्लावित है। वैदिक कर्मकाण्ड को वैखानस–आगम में पूर्ववत मान्यता प्राप्त होने के पश्चात् भी भक्ति के अवयवभूत जप, अर्चना और ध्यान का विधान किया गया है।

इसके अतिरिक्त आस्तिक भारतीय दर्शनो मे तो भक्ति की आनुषगिकता है ही, क्योकि वे वेदो को प्रमाण मानते हैं। नास्तिक दर्शनो में भी भक्ति के स्फुट तत्व दृष्टिगोचर होते है। जैन–दर्शन मे मोक्षमार्ग के रूप मे निर्दिष्ट 'सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र्य' के पीछे निहित 'श्रद्धा' के मूल मे 'भक्ति' ही प्रेरयित्री–शक्ति है, यह हस्तामलकवत् है। साथ ही परवर्ती काल मे तीर्थङ्करो की मूर्तियो की स्थापना एव उनकी षोडषोपचार विधि से सम्पादित की जाने वाली अर्चना से जैन आचार पद्धति पर भक्ति का प्रभाव सुस्पष्ट एव निश्चित होता है।

इसी प्रकार बौद्ध धर्म का भी प्रारभिक स्वरूप तो बुद्धिवादी था, किन्तु परवर्तीकाल मे जब बौद्ध, धर्म विभिनन सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया तो महायान सम्प्रदाय मे भक्ति–भावना का पर्याप्त विकास हुआ। मदिरो का निर्माण, प्रतिमाओ का पूजन तथा नवधा–भक्ति का भी पूर्ण विकास परवर्ती बौद्ध–मत मे हो गया।

इस प्रकार इन नास्तिक सम्प्रदायों मे भी हमे भक्तितत्व की प्रचुरता मिल जाती है जो 'भक्ति' की विशदता तथा उसकी केंद्रीयता को ज्ञापित करती है।

पौरस्त्य–चितन मे भक्तितत्व के अतर्वर्ती सूत्र होने की स्थिति का प्रतिपादन करते हुये भक्ति–सूत्रो पर विचार–करना आवश्यक हो जाता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इन भक्तिसूत्रों का प्रतिपाद्य–विषय भक्ति है। इन सूत्रो मे प्रमुख रूप से 'नारदभक्तिसूत्र' एव 'शाण्डिल्य–भक्ति–सूत्र' आते है। 'नारद–भक्ति–सूत्र' और 'शाडिल्य–भक्ति–सूत्र' के दूसरे सूत्र में भक्ति के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है जिसके अनुसार भक्ति का स्वरूप ईश्वर में साधक के प्रेम की पराकाष्ठा है। इन सूत्रों के अनुसार गोपियो की भक्ति आदर्श–भक्ति है –

'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तोभवति.... .

'योगसूत्र' के 'व्यासभाष्य' मे भी असम्प्रज्ञात समाधि के साधन रूप मे भक्ति–विशेष का उल्लेख हुआ है।

इसी प्रकार, इन सारे दृष्टातो के साथ ही हमे 'अद्वैत–वेदात' मे भी भक्ति के तत्व मिलते है जबकि वेदात के अद्वैती भाष्कार मुख्यत और केवल, मोक्षसाधन के रूप मे, 'ज्ञानमार्ग' की ही महत्ता स्वीकार करते है। 'माडूक्य–कारिका के रचनाकार आचार्य गौडपाद स्वय अद्वैत–वेदात के परमगुरू नारायण, अद्वैत–दर्शन और परम–पद की वदना करते है। इसके अतिरिक्त आचार्य शकर द्वारा रचित 'स्त्रोत्र–साहित्य' भक्ति का अजस्र निर्झर है। इसके अतिरिक्त आचार्य शकर ने पाञ्चरात्र द्वारा प्रतिपादित 'चतुर्व्यूह–सिद्धान्त' का खण्डन करते हुये पाञ्चरात्रो द्वारा अभिमत अभिगमन, उपादानादि रूप भक्ति के सिद्धान्त को प्रत्यक्षत स्वीकार किया है। शकराचार्य के उपनिषद–भाष्यो मे भी भक्ति का पर्याप्त उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार आचार्य रामानुज के पूर्व के साहित्य के गाढ अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि 'भक्तितत्त्व' का संकेत तो वैदिक–वाड्मय से ही स्पष्टतया प्राप्त होने लगता है, परंतु ये दृष्टात यह द्योतित करते है कि इसके सिद्धान्त या 'पञ्चम–पुरूषार्थ' रूप मे स्थापन की महती आवश्यकता बनी हुयी थी, और यह आवश्यकता पूरी तब हुयी जब दक्षिण–भारत के वैष्णव–भक्ति के आकाश में सम्पूर्ण आलवार–परम्परा को सार्थकता देता हुआ, अपनी ज्ञान–रश्मियो से दिगन्त को आलोकित करता हुआ एक प्रखर–मार्तण्ड उदित हुआ। और ये ज्ञान–सूर्य, भक्तप्रवर भगवान श्री रामानुज थे।

प्रत्येक महान विचारक अपने युग का प्रतिनिधि होता है। उसके समक्ष कुछ निश्चित समस्याये होती है, जिनका समाधान वह अतीत के अनुभव एव वर्तमान के अध्ययन के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करके करता है। रामानुज के समक्ष भी ऐसी ही समस्या थी। सम्पूर्ण समाज बिखरा हुआ था, निराशा घर कर गयी थी। आगमों के प्रामाण्य को समाज का

सनातनीवर्ग मान्यता नहीं दे रहा था। आलवार सतो के गीत यद्यपि भक्ति रसामृत प्रवण थे, तथापि समाज का उच्चवर्ग उनसे अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर पा रहा था। ज्ञान–सिद्धात के नीरस दर्शन से प्राकृत जन आतकित था और कुछ–कुछ किकर्त्तव्यविमूढ भी। ऐसे विश्रृंखलित समाज मे एकरसता का वातावरण उत्पन्न करने का कार्य युग–पुरूष रामानुज के कन्धो पर आ पडा। रामानुज ने इस गुरूतर दायित्व का निर्वाह भी बडी ही सूझबूझ एव कुशलता के साथ किया। समाज के बुद्धिजीवी एव अभिजात वर्ग के लिये उन्होने 'भक्तियोग' जैसे मध्यममार्ग का प्रतिपादन किया, जिससे न केवल बौद्धिक जनो की ज्ञान पिपासा की तृप्ति हो सके, अपितु लोगो की धार्मिक भावनाओ, मान्यताओ की भी तुष्टि हो सके। दूसरे शब्दो मे, जिसे बुद्धि समझ सके व हृदय अपना सके। साथ ही, उन्होने भक्ति के ही अगभूत 'शरणागति' का प्रतिपादन करके, समाज मे महिलाओ व शूद्रो के वर्ग के अहम् की तुष्टि की, जिसे न तो वेदो के पावन ज्ञान का अधिकार था, न ही सासारिक जगत् के वात्याचक्र मे फॅसे होने के कारण ज्ञान, भक्ति या कर्म किसी भी साधन द्वारा ईश्वर–प्राप्ति का अवकाश था।

रामानुज के परवर्ती–काल मे 14 वीं 15 वी शती मे 'रामावत–सम्प्रदाय' के अतर्गत कबीर, तुलसी आदि ने भक्ति तत्व की महिमा का पर्याप्त सवर्धन किया एवं वस्तुत 'भक्ति' भारतीय जनमानस मे 'पञ्चम–पुरूषार्थ' के रूप मे स्थापित हो गयी। आचार्य तुलसी ने तो 'रामचरितमानस' जैसा 'भक्ति–सरोवर' बनाकर, युगो से पङ्कपूरित जनों को उसमे अवगाहन करा, निर्मल कर दिया। उधर कबीर ने सिद्ध कर दिया कि भक्ति का मार्ग भी 'मुॅह का कौर' नहीं, वरन् धैर्य एवं समर्पण की पराकाष्ठा है –

'कबीर कठिनाई खरी, सुमिरतॉ हरि नाम।

सूली ऊपरि नट विद्या, गिरै त नाही ठाम।।'

इसी तरह गोस्वामी तुलसीदास ने भी पर्याप्त लगन एव धैर्य के साथ साधने पर ही वास्तविक भक्ति के सिद्ध होने के बात कही है –

'जाने बिनु न होई परतीती बिनु परतीति होई नहि प्रीती।

प्रीति बिना नहि भगति दृढाई। जिमि खगेस जल की चिकनाई।।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय चितन मे भक्ति का तत्व अत्यत प्रमुख भूमिका मे विद्यमान है। पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'भक्ति' मानव जीवन की सहज प्रवृत्ति व विश्वास का फल है, जिसका दर्शन हमे सर्वप्रथम उपलब्ध साहित्य प्राचीनतम वेदो के सहिता भाग मे होता है। आरण्यको, ब्राह्मणो और उपनिषदो मे भक्ति का निरतर विकास होता रहा। पौराणिक–काल मे भक्ति अपनी प्रौढता को प्राप्त कर गयी। भक्ति को अस्तित्व के सगुण–साकार ईश्वर की उपासना का प्रतिपादन करने वाले पाञ्चरात्र एव वैखानस आगमो ने ही नहीं अपितु विशुद्ध ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन करने वाले आचार्यो ने भी स्वीकार किया है। तात्पर्य यह कि आचार्य रामानुज के पूर्व भक्ति–आन्दोलन अपनी प्रौढता को प्राप्त कर गया था। आचार्य रामानुज ने इसे दार्शनिक स्वरूप प्रदान करके सुव्यवस्थित मोक्ष–साधन के रूप मे प्रतिष्ठापित किया, जिसका विवरण शोध–प्रबन्ध के आगामी अध्यायो मे दिया जायेगा।

प्रथम अध्याय

दक्षिण भारत में वैष्णव -भक्ति और रामानुज

(1) आलवार -परंपरा :

एक विहंगम दृष्टि

(1) आचार्य-परंपरा :

(A) नाथमुनि

(B) यामुनाचार्य

(C) आचार्य रामनुज

जब कभी कोई युग इतने सक्रमण की स्थिति मे पहुँच जाता है कि तत्कालीन सस्कृति एव अस्मिता के सामने सकट खडा हो जाये तो इन्ही कठिन परिस्थितियो मे युगप्रवर्त्तक, क्रातिद्रष्टा मनीषियो का आविर्भाव होता है जो परम्पराओ के सडे–गले अंगो को काटकर उनमे युगानुकूल, स्वस्थ प्राणवायु का सचार करते हैं। राम, कृष्ण, गौतम बुद्ध, भगवान महावीर, ईसा मसीह, जरथुस्त्र, मुहम्मद, शकर, आदि महापुरूष इस प्रकार के नाम है। इन सभी ने जागतिक हानि–लाभ, यश, अपयश, जीवन मरण आदि की परवाह न करते हुये, प्रबल झझावातो को झेलते हुये भी लोकमंगल के दायित्व का निर्वहन किया। वैष्णव भक्ति के परमगायक भगवान रामानुज की अवतारणा भी उक्त तथ्य का अपवाद नहीं है।

तत्कालीन समाज :-

रामानुज पूर्व दक्षिण भारत मे विभिन्न राजवश सघर्ष तथा मैत्री का उच्चावच झेलते हुये अपने अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। पल्लवों की शासन–पताका उतर चुकी थी और चोल–साम्राज्य की विजय–वैजयन्ती श्रीविजय, बग और कलिङ्ग आदि देशो मे भी फहराने लगी थी। चोल–साम्म्राज्य के सामने अपना सक्षम प्रतिरोध एक मात्र चालुक्यो ने ही व्यक्त किया था। कालान्तर मे होयसलवश ने भी चोल–साम्राज्य को चुनौती दी। इस प्रकार ये ऐतिहासिक तथ्य यह ज्ञापित करते है कि मध्य के कुछ कालखण्डो के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण दक्षिण भारत उस समय पर्याप्त अस्त–व्यस्त एव विश्रृँखलित था।

उस युग की पर्याप्त अस्त–व्यस्तता के मध्य भी, कुछेक अपवादो को छोडकर प्राय हिन्दू–धर्म ही जन–जीवन की रीढ था। बौद्ध–धर्म, विलासिता एवं पाखण्ड–प्रदर्शन के फेर मे पडकर विकृत एंव त्याज्य हो गया था। महज जैन–धर्म ही अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख पाने में सफल रहा था और वह भी अपनी वाणिज्य–वर्गाश्रितता के कारण। ज्ञान एवं दर्शन की चर्चा महज विद्वानो की सभा तक ही सीमित थी, तथा प्राकृत जन अपनी दैनन्दिन समस्या से जूझता हुआ, इन चर्चाओ से पराङ्मुख एव दिग्भ्रमित था। कुमारिल–भट्ट के

पूर्वमीमासा–प्रवचन तथा आचार्य शकर के ब्रह्मज्ञान की सर्पिल पगडडियॉ, प्राकृत जनो के लिये पर्याप्त भयावह हो चुकी थी। पथ की दुरूहता से क्लात अबोध जनमानस को किसी प्रशस्त मार्ग की आवश्यकता थी, जहॉ उसके सहज मन को आश्वस्ति की छॉह मिल सके।

इस रिक्तता की पूर्ति हेतु दक्षिण भारत के सामान्य जन–जीवन को प्रभावित करने वाली दो धाराये प्रवाहमान थीं। एक धारा का प्रतिनिधित्त्व जो सत करते थे, उन्हें हम 'नयन्नार' के नाम से जानते है। दूसरे सत 'आलवार' कहलाते है। इनमें 'नयन्नार' भगवान शिव को अपना सर्वस्व मानकर तद्भक्तिभावनाभावित रहा करते थे। आलवारो के नाम से जाने–जाने वाले तमिल सतों के सर्वस्व थे भगवान–विष्णु। यहीं पर विष्णु भक्ति का जो गायन अलवार– सतो द्वारा प्रारम्भ होता है वही आधार बनता है नाथमुनि, यामुनाचार्य तथा आचार्य श्री रामानुज के लिये। और, इन्हीं अपने पूर्ववर्न्तियो से वैष्णवी भक्ति का उपजीव्य लेकर आचार्य रामानुज ने जनमानस को आश्वस्ति दी तथा उनकी सहजमुक्ति का पथ भी प्रशस्त कर दिया। इसमे यदि एक ओर भक्त–शिरोमणि 'अर्जुन' सदृश समर्पितमना जनो के लिये स्थान था तो दूसरी ओर था अजामिल की कोटि के पापियो की अद्यमुक्ति का आश्वासन। इस प्रकार आचार्य रामानुज उस युग के स्नेह–सबल बने।

<u>आलवार परंपरा-एक विहंगम दृष्टि :-</u>

"आलवार" शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है ईश्वर का साक्षात् करने वाला, जो ईश्वरध्यान मे लीन हो। आलवार सन्त भगवान् लक्ष्मी नारायण विष्णु के विभिन्न अवतारो, राम और कृष्ण आदि के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भाव से तन्मय होकर हृद्गत उत्कट भावो की अभिव्यक्त किया करते थे।

आलवारों की सख्या के विषय में समस्त पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों मे ऐकमत्य है। श्री वेंकट नाथ ने अपने एक तमिल– प्रबन्ध में आलवारों की सूची दी है जिसमें मधुर कवियालवार और आण्डाल के अतिरिक्त सभी आलवारों के नाम हैं।[1] आचार्यपाद रामानुज के

प्रमुख शिष्य पिल्लान् जिन्होने नाम्मालवार के 'तिरूवायमोलि' की टीका की है, ने एक पद्य मे समस्त द्वाद्वश आलवारो का उल्लेख किया है।[2]

आलवारो की संख्या प्राय सुनिश्चित होने पर भी उनका प्राथमिकताक्रम और काल विवादास्पद है। किसी प्रबल ऐतिहासिक साक्ष्य के अभाव मे गुरूपरम्परा मे कथित दिया हुआ प्राथमिकता का क्रम विश्वसनीय नहीं लगता। फिर भी परम्परागत प्रमाणो के आधार पर सरोयोगी, भूतयोगी, महद्योगी, भक्तिसार अत्यधिक प्राचीन है। शठकोप, मधुर, कवि, कुलशेखर, विष्णुचित्त और आण्डाल का कालक्रम मध्य मे है। भक्ताङ्घ्रिरेणु, योगिवाहन और परकाल सबसे पीछे हुये। प्राप्त परम्परागत साक्ष्यो के आधार पर आलवारो का काल ईसापूर्व 4203 से लेकर ई० पूर्व 2706 के मध्य माना गया है।[3] किन्तु आधुनिक विद्वान् नवीन अनुसन्धानों के आधार पर सातवीं आठवी ई० के आस–पास ही आलवारो का आविर्भाव मानने को तैयार है। श्री आयगर प्रथम चार आलवारो का काल ईसा की दूसरी शताब्दी के आस–पास रखते है।[4] जबकि श्री गोपीनाथ राव सातवीं सदी के मध्य मानते है[5]। यतीन्द्र–प्रवण–प्रबन्ध मे महाद्योगी, सरोयोगी एव भूतयोगी और तिरूमरिसैपिरान को पल्लवों के समकालीन कहा गया है। ऐतिहासिक आधार पर पल्लवो का काल ईसा के पश्चात ही माना जाता है। यतीन्द्र–प्रवण–प्रबन्ध मे उल्लिखित भामलै नगर, जहॉ भूतयोगी निवास करते थे, को सातवीं शताब्दी ई० के मध्य मे नरसिह बर्मन प्रथम ने बसाया था। उक्त पुष्ट प्रमाण के आधर पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आलवार सातवीं सदी पूर्व नहीं हुये। परकाल द्वारा परमेश्वर बर्मन के बनाये हुये विष्णु मन्दिर की विहित प्रशसा भी आधुनिक विद्वानो के मत की ही पुष्टि करती है।

आलवारों के आविर्भाव मे श्रीमद्भागवत पुराण मे संकेत मिलता है। श्रीमद्भागवत मे कहा गया है कि–विष्णु भक्त दक्षिण में ताम्रपर्णी, कृत–माला, पयस्विनी, कावेरी और महानदी के तट पर जन्म लेंगे।[6] उक्त संकेत आलवारों के जन्म स्थान के विषय में पूर्णतया

घटित होता है। शठकोप और मधुर कवि ताम्रपर्णी के तट पर, विष्णुचित्त और गोदा कृतमाला के, सरोयोगी, भूतयोगी, महद्योगी और तिरूमरिसैपिरान पयस्विनी के, भक्ताङ्घ्रिरेणु, परकाल और योगिवाहन कावेरी तट पर तथा कुलशेखर महानदी के तट पर आविर्भूत हुये थे।

आलवारों की रचनायें जो भागवत भक्ति से ओत–प्रोत हैं, संकलित रूप मे "नाल आयीर दिव्यप्रबन्धम्" के नाम से जानी जाती है । रामानुज सम्प्रदाय मे उक्त ग्रन्थ का महत्त्व वेदो के समान ही है।

सरयोगी, भूतयोगी और महद्योगी ने तिरूवन्ताडी ग्रन्थ के सौ पद्य के अलग–अलग तीन प्रकरण रचे थे। तिरूपरीसाईपीरान (भक्तिसार) ने छियानबे दोहो वाले ननमुखम् तिरूवन्ताडी और तिरूचण्डवृतम नामक तीन स्तोत्रो की रचना की थी। सुप्रसिद्ध शूद्रजातीय आलवार शठकोप ने विभिन्न रचनाओं द्वारा अपनी सहज ईश्वरानुभूति को अभिव्यक्त किया है। उनकी कवितायें 'नालायीर दिव्यप्रबन्धम्' में सग्रहीत है। उन्होने शतश्लोकी "तिरूवृत्तम" सप्तश्लोकी 'तिरूवाषिरियम' 'सप्तशीतिश्लोकी' 'पेरियविरूवन्तडी' नामक ग्रन्थ की रचना की। उनका सबसे बडा ग्रन्थ जो 'नालायीर दिव्यप्रबन्धम्' के खण्ड के रूप मे जाना जाता है 'तिरूवायमोली' है जिसकी श्लोक सख्या एक हजार एक सौ दो है। शठकोप को वैष्णव परम्परान्तर्गत विष्णु का अवतार माना जाता है।

मधुर कवि का जन्म तिरूकालर नामक स्थान पर एक सामवेदी ब्राह्मण कुल मे हुआ था। ये वेदों के अच्छे ज्ञाता थे। अपनी कविता के माधुर्य के कारण ही ये "मधुर कवि" के नाम से विख्यात हुये।

कुलशेखर दक्षिण भारत के चेरवंश राजा थे। सर आर० बी० भाण्डारकर के अनुसार कुलशेखर पेरूमाल ट्रावनकोर के राजा थे। जिनका कार्यकाल बारहवीं शदी के मध्य में है। श्रीभाण्डारकर कदाचित् कुलशेखर पेरमाल की अभिन्नता श्री कुलशेखरान्द्र से करते है, जिन्हें सेंदकुलीय पेरमादी (1138-1150) ने पराजित किया था।[7] श्री आयंगर ने उक्त

अभिन्नता का विरोध करते हुये लिखा है कि रामानुज के प्रमुख शिष्य पिल्लान् द्वारा रचित श्लोक, जिसमें कुलशेखर समेत सभी आलवारो का कथन है, से सिद्ध है कि रामानुज–काल मे कुलशेखर की गणना आलवारो मे होने लगी थी। एतदतिरिक्त वेंकटनाथ (14 वी सदी) ने भी कुलशेखर की गणना आलवारो मे की है।

कुलशेखर ने अपने ग्रन्थ 'मुकुन्दमाला' मे लिखा है कि वे कोल्लि, कुदाल और कोगु के राजा थे। वंजीकुलम् (त्रावनकोर) के निवासी होने के साथ ही पाण्ड्यो और चोलो की राजधानी मदुरा और उरैयूर के राजा बन गये। त्रावनकोर का पाण्ड्य और चोल राज्यो पर आधिपत्य निश्चितरूप से महान् पल्लव नरेश नृसिह बर्मन के उत्थान 600 ई० से पूर्व या नन्दिबर्मन के साथ उस वश के पतन (800 ई०) के बाद ही सम्भव है। चोलराज, परान्तक (900 ई०) के पूर्व ही उरैयूर पर भी कुलशेखर का आधिपत्य सम्भव है। अत इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि कुलशेखर का काल 825 ई० के आस–पास था। कुलशेखर श्री राम भगवान् के अनन्यभक्त थे। इन्होने 'पेरूमाल तिरूमोली' की रचना की है।

विष्णुचित्त जिन्हें 'पेरियालवार' भी कहा जाता है, का जन्म वित्तपुत्तुर मे हुआ था। इनके द्वारा रचित मुख्य ग्रन्थ 'तिरूपल्लाण्डु' और 'तिरूमोरी' है। इन्हीं की दत्तक पुत्री आण्डाल (गोदा) कृष्ण की अनन्य आराधिका थी। वह स्वय को गोपियो में से मानती थी। उसने सम्पूर्ण जीवन कृष्ण–मिलन हेतु बिताया उसका विवाह श्री रगम के भगवान् रगनाथ के साथ हुआ था। आण्डाल ने 'तिरूपावै' और 'नच्छीयार' की रचना की।

भक्तांघ्रिरेणु मदनगुडी मे जन्मे थे। भगवान रगनाथ के कृपा–कटाक्ष–प्रभाव से देवादेवी नाम वेश्या के जाल मे फॅसकर भी मुक्त हो गये। उन्होंने 'तिरूमालै' एवं 'तिरूपलिल्येस्ची' नामक ग्रन्थों की रचना की। योगिवाहन का पालन–पोषण निम्नजातीय सन्तानविहीन नार ने किया था। इन्होंने दशश्लोकों की 'अमलनादि विरान' की रचना की। परकाल आलवारो की परम्परा में अन्तिम आलवार है। इनका जन्म चोर जाति में हुआ था। ये पहले डाका डालते

थे, परवर्तीकाल मे रगनाथ भगवान् की कृपा से इन्हे ज्ञान प्राप्त हो गया। इनके द्वारा पेरिय विरूमोर्री 'तिरूकुरून–दाण्डकम्' तिरूनेड–'दाण्डकम्' 'तिरूवेरूट्टरूक्कै' सिरिय तिरूपडल और पेरिय– तिरूपडल की रचना की गयी।

आलवारो की कृतियॉ भक्ति–प्रासाद के निर्माण की आधारशिला है। आलवारो के मन मे अपने प्रियतम ईश्वर के प्रति जो भी भाव, चाहे वह दास्य, सख्य, वात्सल्य प्रणय मे से कोई भी हो,जैसे उठे, उसे उसी रूप मे अभिव्यक्ति कर दिया। यहीं नही, आलवारो ने अपना तादात्म्य पुरातन भक्तो से स्थापित कर अपने को वही समझा। आण्डाल तो आजीवन अपने को भगवान कृष्ण की गोपिकाओ मे से एक मानती रही हैं। कुलशेखर के विषय मे प्रसिद्ध है कि रामायण सुनते–सुनते वे इतने भाव–विभोर हो उठे कि उन्होने तत्काल भगवान् राम की सहायतार्थ अपनी सेवा को तैयार होने का आदेश दे दिया।[8] शठकोप (नाम्मालवार) की मान्यता थी कि प्रत्येक जीव को परमपुरूषोत्तम भगवान् के प्रति को स्त्रीभाव से समर्पित करना चाहिये इसी सन्दर्भ मे "तिरूवाय मोलि" ग्रन्थ के कुछ अश यहा उद्धृत किये जाते है ! जिसमे ज्ञात हो जाता है कि शठकोप कृत भगवान के प्रेम–गीत किस प्रकार के है। इनमे शठकोप बलाका, कोयल हस और भ्रमर इत्यादि पक्षियो से अपने प्रियतम के पास सन्देश ले जाने की याचना करते है।

अञ्जिरैय मडनाराय् अकियत्ताय्.   नीयुम्निन्
अञ्जिरैय शेवलुमाय् आवावेन्नु एनक्ककरूळि
वेञ्जिरै प्यळ्ळुयर्त्तोक्कं, एनविडुतूदाय च्वेन्नक्काल्
वनशिरौये लवन् वैक्किल् वैप्पुण्डालू एनशेय्रूयमे' ।।

ऐ सुन्दर पक्षवाली बलाके। मेरे प्रति तुम दया करो। तुम अपने सुन्दर पक्ष वाले पति के साथ, हाहाकारपूर्वक मुझपर दया करती हुई तीक्ष्णापक्षयुक्त गरूडध्वज भगवान् के पास मेरी दूती बनकर यदि जाओगी ओर यदि वे अभिमुख न होकर तुम्हारे विमुख ही रह

जायेगे, तो उससे तुम्हे कौन सी हानि होगी ?

एन्येश्य्य तामरैक्कण् पररूमाना वक्ने्तूदाय
एन्शेय्यु मुरेत्तक्कालू इलक्कुयिल्हाल् नीरलिरे
मुन्शेयद मुलुविनैयाल् विरूवाडिक्कीलूक्कुत्तेवल्
मुन्शेय्ये मुयलादेन् अहल्वदुवो विदियनमे ।। 2 ।।

ऐ सघीभूत कोकिल मेरे कमलनयन भगवान् के पास मेरे दूत के रूप मे पहुँचकर सन्देश सुनाने से तुम्हे कौन सी हानि पहुंचेगी ? क्या तुम्हारा स्वभाव ही बदल गया ? पहले के अपने पापो के फलस्वरूप अभी तक उनके श्रीपादों की सेवा करने के भाग्य से मे विरहित रही। क्या मुझे अब भी उनसे विरहित ही रहनी चाहिये ?

विदियिनाल् पेडैमणक्कुम मेन्नडैय अन्नअगल
मदिययिनाल् कुरूलूमाणय् उलहिरन्द कल्वक्कं,
मदियिलेन् वलिल्वने ये माला दोवेन्नु ओरूति
मदियेला मुककलङ्गि मद्यड् गुमा लेन्नीरे ।। 3 ।।

विधिपूर्वक गृहस्थाश्रमी एवं सुन्दर गमनवाले हे राजहसों ! मतिबल से वामन ब्रह्मचारि का रूप धारण कर जगत की भिक्षा मॉगने वाले कपटी भगवान से कहो कि 'कोई एक अद्वितीय नायिका,' यो पूछती हुई कि क्या मतिहीन मुझ एक का ही पाप अनन्त है ? "पूर्णरूपेण क्षुब्ध उनकी मतिवाली होकर हाय ! मोह पा रही है।"

अरूळाद नीररूहि अवरावि तुवरामुन
अरूळाळि प्पुळकडबीर् अबर्वीदि योरूनाळेन्नु
अरूळाळि यम्माने कण्क्काल इदुशोल्लि अरूळ्
आळि वरिवण्डे यामुमेन् पिळैत्तोमे ।।

हे गम्भीर स्वाभाव वाले सुन्दर भ्रमर ! दया सागर भगवान् को देखने पर उनंसे

कहो, "अभी तक निर्दय रहने वाले आप, अपने स्वाभाविक कृपा दिखाते हुये (कुरूकापुरी के शठकोप सूरि अथवा पराङ् कुशनायिका नामक) उनका शरीर छूटने के पहले ही, परमकारूकाणिक गरूड जी को उनके मार्ग से (माने उनके घर के सामने से) अन्तत एक ही बार चलाइए।" हे भ्रमरराज। तुम मेरे ऊपर इतनी कृपा करो तो सही। हाय ! मैने कौन सा अपराध किया ?

इसी प्रकार परकाल (तिरूमगे आलवार) ने सख्यभाव स्थापित करके ईश्वर के प्रति अपने को समर्पित किया था।

आलवारो की भक्ति का मूल तत्त्व है, अहम् का पूर्णतया विसर्जन ओर अभीष्ट के प्रति निष्कामभाव से स्वसमर्पण। इसके अभाव मे भक्ति अहकारमात्र अथवा ढोगमात्र रह जाती है। आलवारो की कृतियो मे इसी समर्पण भाव का आद्यान्त–समभावेन दर्शन होता है। आलवारो के उक्त समर्पण मे न तो ज्ञान की अनिवार्यता थी और न ही कर्म का बन्धन। उसमे हृदय के अन्दर शान्त समुद्र की तरह निस्तब्ध भावो का गाम्भीर्य था, जो अपने प्रियतम की ललक मे हृदयरूपी सीमा के बन्धनो को तोडकर लोक–कल्याणार्थ कविता के रूप मे फूट निकला। जिससे आप्लावित हो सम्पूर्ण दक्षिणी–भारत का तत्कालीन समाज, जो भौतिक वात्याचक्र से दु खित था, जिसे शकर के कोरे ज्ञानवाद, कुमारिल के याज्ञिक कर्मकाण्ड, और जैन सन्तो के स्याद्वाद से कोई सरोकार न था, को एक अद्भुत शान्ति मिली। नाम्मालवार की मान्यतानुसार जब कोई भक्ति मे परिपूर्ण समर्पण भाव से अभिभूत हो जाता है तब वह सरलता से सत्य को पा जाता है।

आलवारों का उदय-एक सामयिक आवश्यकता :-

आलवारों का अभ्युदय भी अपने काल की परिस्थितियो से जुडा हुआ था। उस समय कोई ऐसा सम्प्रदाय या धर्म नही था, जो सम्पूर्ण समाज मे एकरसता का वातावरण निर्मित करके सबको एक साथ ले चल सके। सनातन हिन्दू धर्म के जातिवाद एव गहन कर्मकाण्डवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न बौद्ध एवं जैन धर्म भी उन्ही दोषों से ग्रस्त हो गये, जिनके

विनाशार्थ उनका आविर्भाव हुआ था। फलत सम्पूर्ण–समाज के उस वर्ग, जिसका दृष्टिकोण व्यापक था, जो दीन–हीन जनो के दु:ख से अपने को व्यथित पाता था जिनकी उमग सपूर्ण समाज को एक साथ लेकर चलने की थी, मे आलवारो के रूप मे ऐसे महापुरूषो का आविर्भाव हुआ जिन्होने देश के धार्मिक इतिहास को एक नयी दिशा दी। आलवारों के विषय मे यह तथ्य विशेष महत्व का है कि वे सब किसी एक जाति या वर्ग से सम्बद्ध न होकर सम्पूर्ण समाज के विभिन्न वर्गो से सम्बद्ध थे। उनमे ब्राह्मण थे तो शूद्र भी थे, राजकुमार थे, तो महिला भी। कहने का तात्पर्य था कि जिस प्रकार देवताओ के उद्धार के लिये सम्पूर्ण देवताओ की शक्ति के सयोग से भगवती दुर्गा की उत्पत्ति हुई थी तदत सम्पूर्ण–समाज का एक सामूहिक शक्ति पूञ्ज दुखित, पीडित, निराश जनो के उद्धारर्थ आलवारो के रूप मे आविर्भूत हुआ चूकि आलवार सत सासारिक बन्धनो की चिन्ता किये बिना ही ईश्वर के प्रति अपने को समर्पित किये हुये थे, उनके लिये अपना प्रियतम ही सब कुछ था, उन्हे न तो काल की चिन्ता थी न देश की, वे सबसे परे मात्र अपने प्रियतम के भक्त थे। आराधक् थे। अत परवर्ती समाज भी जाति भेद, लिंग–भेद आदि पर ध्यान न देकर सबको समभावेन सम्मान दिया।

आलवारों द्वारा अनुभूत सम्पूर्ण–समर्पण–सिद्धान्त ही आचार्य रामानुज द्वारा प्रतिपादित 'भक्ति सिद्धान्त' का आधाराश्म बना। 'शरणागति' का भक्ति–योग–सिद्धि मे क्या भूमिका है? इसका प्रतिपादन आगामी अध्यायो मे किया जायेगा। किन्तु आलवारो की कृतियो का महत्त्व तो इसी से सिद्ध होता है कि रामानुज प्रभृति आचार्यो ने स्वसिद्धान्त–प्रतिपादन मे वेदो के साथ ही आलवारो के गीत सग्रह 'नालायिर दिव्य–प्रबन्ध' जिसे 'द्राविडाम्नाय' भी कहा जाता है, को समान सम्मान (महत्त्व) प्रदान किया है, इसी कारण से श्री वैष्णव–दर्शन साहित्य को 'उभयवेदान्त' की संज्ञा दी जाती है।

सनातन हिन्दू धर्म की जीवन्त्ता का मूल कारण यह है कि जब कभी भी अपनी धरती पर अपने ही लोग द्वारा, स्वीकृत–मान्यताओ के विरूद्ध विद्रोह हुआ, जिससे पुरातन सामाजिक

प्रासाद की नींव हिल गयी। तो परवर्ती आचार्यो ने समन्यवादी दृष्टिकोण अपना कर उभरती हुई नवीन प्रवृत्तियो को आत्मसात करने का प्रयास किया। इस प्रयास मे वे बहुत कुछ सीमा तक सफल भी रहे। शाक्यमुनी गौतम बुद्ध को भगवान विष्णु के दशावतार के मध्य स्थान देना इसी (समझौतावादी) समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिणाम है आलवारो के सम्पूर्ण समर्पणरूप भक्ति–सिद्धान्त को परवर्ती आचार्य परम्परा द्वारा शास्त्रीय आधार प्रदान करने का प्रयास भी इसी प्रवृत्ति का फल है।

आचार्य- परम्परा

नाथमुनि :-

आलवारो के समकाल दक्षिण भारत मे जिस समन्वयवादी प्रवृत्ति का जन्म हुआ उस परम्परा के अर्न्तगत आने वाले विद्वानो ने आलवारो की कृतियो को न केवल सम्मान प्रदान किया अपितु तद्गत नवीन प्रवृत्तियो, सिद्धान्तो को शास्त्रीय आधार प्रदान करने का प्रयास किया। इनको परवर्ती विद्वानो ने अर्गीयस् या आचार्य की सज्ञा प्रदान की है। इन आचार्यो की परम्परा का श्रीगणेश नाथमुनि से माना जाता है। श्री वैष्णवो की गुरू–परम्परा, 'दिव्य– सूरि चरित' और अनन्त सूरिकृत 'प्रपन्नामृत' के अनुसार नाथमुनि नाम्मालवार (शठकोप) के अथवा उनके शिष्य मधुर कवि के प्रत्यक्ष सम्पर्क मे थे। 'दिव्य सूरिचरित्र' का कथन है कि नाथमुनि के शठकोप का ग्रन्थ 'तिरूवायमोर्री' साक्षात् उन्ही से मिला। इसके विपरीत प्रपन्नामृत का मत है कि नाथमुनि की भेंट मधुर कवि से हुई, जिनसे उक्त ग्रन्थ के नष्ट होने की जानकारी हुई। अन्त में नाम्मालवार ने नाथमुनि की आराधना से सन्तुष्ट होकर अर्जुन को श्रीकृष्ण की तरह दिव्य नेत्र प्रदान करते हुये सम्पूर्ण ग्रन्थ को रहस्यत्रयसमेत बता दिया। नाथ मुनि का जन्म चोल देश के 'वीर नारायण' ग्राम में हुआ था। उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य था, आलवार सन्तो के तमिल भाषा के गीतों को क्रमबद्ध करना। उनके पिता

का नाम ईश्वर भट्ट और पुत्र का 'ईश्वरमुनि' नाम था। आधुनिक इतिहासकार इनका कार्यकाल नवीं शताब्दी के मध्य मानते है। जब कि प्रपन्नामृत मे स्पष्टतया कलिसवत् तीन हजार वर्ष का उल्लेख हुआ है। उन्होने उत्तर भारत की व्यापक यात्रा की थी और वे द्वारिका–मथुरा, वृन्दावन, हरिद्वार बगाल और पुरी तक गये थे। उन्होने 'न्यायतत्व' और 'योग–रहस्य' नामक ग्रन्थ की रचना की जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है[9]। उनके शिष्यो मे पुण्डरीकाक्ष, करूकानाथ, श्रीकृष्ण और लक्ष्मीनाथ प्रमुख थे।

<u>यामुनाचार्य :-</u>

नाथमुनि के अनतर उपलब्ध आचार्य–परम्परा में यामुन का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। चूँकि इनके पूर्व के किसी भी विद्वान् की कोई भी दार्शनिक रचना उपलब्ध नही होती अतएव इन्हे विशिष्टाद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन करने वाला प्रथम आचार्य कहा जा सकता है। ये पुण्डरीकाक्ष के शिष्य राम मिश्र के अन्तेवासी थे। यामुनाचार्य नाथमुनि के पौत्र थे, ऐसा उल्लेख स्वय अपनी कृति 'स्तोत्र–रत्न' मे किया है।[10]

सम्भवत इनका जन्म 918 ई० मे हुआ था और ये ई० सन् 1038 मे स्वर्गधाम पहुँचे, ऐसा परम्परागत प्रमाणो की आधुनिक विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है। अनन्तसूरि के कथनानुसार राम मिश्र के आदेश से इन्होंने नाथमुनि के शिष्य श्री करूकानाथ से अष्टागयोग सीखा। इनको शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त होने के कारण आधा राज्य प्राप्त हो गया था। जिसके अनन्तर ये वैभव पूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे थे। श्री राम मिश्र के अथक प्रयास से पुन इनकी विरक्ति जगी और वे अपने गुरू के साथ श्रीरगम चले गये तथा सर्वस्व त्याग कर महान् भक्त बन गये। इनके अनेक शिष्य थे जिनमे 21 प्रमुख माने जाते है। इन्होने शूद्र जातीय भक्तो को भी पञ्च– सस्कारीय दीक्षा प्रदान करके अपना शिष्य बनाया। इन्होंने स्तोत्ररत्न, चतुश्श्लोकी, गीतार्थ–सग्रह, महापुरूष निर्णय, आगम–प्रामाण्य एवं सिद्धित्रय नाम छह ग्रन्थो की रचना की। इनमें 'सिद्धित्रय' विशिष्टाद्वैत के तीनों मूल तत्व ईश्वर, जीव और

जगत पर लिखा गया है। सिद्धित्रय मे यामुन ने जहा ईश्वर को नैयायिको की तरह अनुमित किया,[11] वही पर स्वयप्रकाशत्व, अणुत्व, नित्यत्वादिलक्षणलक्षित–आत्मतत्व का भी प्रतिपादन किया है। जगत् के विषय मे आचार्य यामुन का प्रयास तन्मिथ्यात्त्व निषेधपरक मात्र था।

आगम–प्रामाण्य मे वैष्णव आगमो (पाञ्चरात्र–साहित्य) को वेदानुकूल सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना से ही स्पष्ट है कि तत्कालीन जन–मानस (पाञ्चरात्र आगमो और) आलवारो की कृतियो की प्रामाणिक मानने को तैयार न था। 'चतुश्श्लोकी' मे लक्ष्मी का अतीव हृदयहारी वर्णन है और 'स्तोत्ररत्न' तो साक्षात् प्रपत्तिशास्त्र है।

'स्तोत्ररत्न' जिसे यामुन के अपरनाम 'आलवन्दार–स्तोत्र' के नाम से भी जाना जाता है, सचमुच स्तोत्र–साहित्य का मुकुटमणि है। इसके श्लोको का मूल स्वर प्रपत्ति की अभिव्यक्ति है, इसी को वेकटनाथ ने अपनी टीका मे स्पष्ट किया है। इनमे यामुन तुच्छ कीट से भी अधम[12] समस्त अवगुणो[13] की खान अपने को स्वीकारते हुये, अपने अभीष्ट भगवान् वरदराज को नानाविध उपालम्भ देते हुये सम्पूर्ण शरणागति का प्रतिपादन करते है। फिर भी इन श्लोको में वह स्वाभाविक सरलता, नहीं दृष्टिगोचर होती जो आलवार सन्तो के गीतो मे है। रससिद्ध कवि कालिदास की रचना के समक्ष जो दशा माघ आदि अलकारप्रिय कवियो की कृतियो की होती है ठीक वही स्थिति आलवारो के गीतो के समक्ष स्तोत्ररत्न की है। किन्तु फिर भी यामुन ने क्रमबद्ध क्रियात्मक शरणागति का जो निबन्धन स्तोत्ररत्न के रूप मे किया है, वह न केवल सर्वश्रेष्ठ अपितु परमस्तुत्य भी है।

यामुन 'गीतार्थ सग्रह' में गीता को भक्तिशास्त्र मानते है। तदनुसार भक्ति ही जीवन के उच्चध्येयं पाने का अन्तिम साधन है, जो शास्त्रोक्त स्वधर्म पालन ज्ञान और वैराग्य से उत्पन्न होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यामुन ने अथक परिश्रम से ऐसे मार्ग का निर्माण कर दिया था, जिस पर चलकर आचार्य रामानुज ने भक्तितत्व प्रतिपादनरूपलक्ष्य को बडी सुगमता से प्राप्त कर लिया।

<u>आचार्य रामानुज :-</u>

यामुन के अनन्तर विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापकाचार्य भाष्यकार रामानुज हुये। वेदो, उपनिषदो, पुराणो, आगमो और आलवारसन्तो के गीतो मे विशिष्टाद्वैत वेदान्त के, जो तत्वरत्न बिखरे पडे थे, उन्हे सॅवार–सजाकर क्रमबद्ध शास्त्रस्रक् का रूप देने का गुरूतर कार्य आचार्य रामानुज ने ही किया । इसी कारण विशिष्टाद्वैत वेदान्त को 'रामानुज वेदान्त' के नाम से जाना जाता है।

<u>जीवन वृत्त :-</u>

रामानुज का जन्म विक्रमी सवत् 1074 के चैत्रशुक्ल पञ्चमी गुरूवार को मध्याह्न आर्द्रा नक्षत्र कर्कलग्न मे पेरूमबदूर (भूतपुरी) नगरी में हुआ था[15] । इनके पिता आसुरि केशव श्री शैलपूर्ण के बहनोई थे, इनकी माता का नाम कान्तिमती था। रामानुज की प्रारम्भिक शिक्षा–दीक्षा अपने मौसेरे भाई गोविन्द के साथ यादव प्राकाश के सान्निध्य में हुई । कहा जाता है कि रामानुज का श्रुतियो की व्याख्या के सन्दर्भ मे यादव प्राकझश से विवाद हो गया, फलत उन्होंने यादव प्रकाश का सान्निध्य छोडकर अपने घर मे ही स्वाध्याय करना प्रारम्भ कर दिया।[16] इन्हीं दिनो, उनका सम्पर्क शूद्रजातीय वैष्णवभक्त काचीपूर्ण से हुआ, जिनकी प्रेरणा से वे काची–स्थित वरदराज भगवान् की आराधना करने लगे। यामुनाचार्य को जब अपने शिष्यो द्वारा रामानुज के उत्कट ज्ञान, वैराग्य की जानकारी मिली तो उन्होंने महापूर्ण स्वामी को इन्हे लाने के लिये भेजा, किन्तु दुर्भाग्य से रामानुज के आने के पूर्व ही यामुन का प्राणान्त हो गया। प्रपन्नामृत के अनुसार रामानुज के यामुन के विगत प्राणशरीर की तीन अंगुलियों को मुडी देखकर तीन प्रतिज्ञा की जिससे वे सीधी हो गयीं। पहली प्रतिज्ञा थी स्वयं

वैष्णवमत मे दीक्षित होकर वैष्णव–जनों का उद्धार एव सम्प्रदायरक्षा, दूसरी श्री भाष्य की रचना और तीसरी के अनुसार किसी वैष्णव विद्वान् का पराशर नामकरण।

उपर्युक्त प्रतिज्ञा करने के बाद रामानुज काची वापस आ गये और महात्मा काचीपूर्ण के सत्सग का लाभ प्राप्त करने लगे। कालान्तर मे रामानुज ने यामुन–शिष्य महापूर्ण से पचसस्कार दीक्षा प्राप्त की। आचार्य पत्नी एव अतिथियो के प्रति अशिष्ट व्यवहार के कारण रामानुज अपनी पत्नी रक्षकाम्बा से अत्यन्त असंतुष्ट थे, फलत उन्होने उसे बहाना बना करके मायके भेज दिया और स्वय सन्यास ग्रहण कर दिया। सन्यासी होने के पश्चात् रामानुज श्रीरगम् चले गये और वहीं भगवान् रगनाथ की भक्ति मे अपना सम्पूर्ण जीवन दे दिया। रामानुज ने काश्मीरपर्यन्त सम्पर्ण उत्तर भारत की व्यापक यात्रा की और विभिन्न मठो की स्थापना की।

चौलराज कुलोत्तुग जिसे प्रपन्नामृत मे कृमिकण्ठ कहा गया है, वे आतक से रामानुज सामान्य गृहस्थ के वेष में श्रीरगम् छोड़कर होयसलवशी नरेश विट्ठिदेव के राज्य मे चले गये और जैन मतावलम्बी नरेश विट्ठदेव की वैष्णवमत मे दीक्षितकर उसका नाम 'विष्णुवर्धन' रखा। कुलोत्तुग द्वारा वैष्णवो पर घोर अत्याचार किये गये। भारत वर्ष के इतिहास मे ऐसी घटनाये अपवाद स्वरूप ही हैं कि जब कोई राजा किसी अन्य मतावलम्बी महात्मा की ऑख मात्र विचार–वैभिन्य के कारण निकलवा ले। रामानुज के शिष्य कूरेश ओर गुरू महापूर्ण के साथ कुलोत्तुग ने पाशविक अत्याचार किया था। कुलोत्तुग प्रथम (सन् 1070 से 1118 ई०) की मृत्यु के उपरान्त रामनुज पुन श्री रंगम् वापस आये और वहीं पर सन् 1137 ई० मे 120 वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त करके शरीरत्याग किया।

कृतित्व :-

रामानुज ने सर्वप्रथम गद्यसय की रचना की। 'श्री भाष्य' के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों के मध्य विवादास्पद स्थिति है। 'चलारिस्मृति' के अनुसार 1127 ई० में भाष्य

प्रतिष्ठा पा चुका था। 'रामानुजाचार्यदिव्यचरितम्' के अनुसार श्रीभष्य चोल–उपद्रव के पश्चात् पूर्ण हुआ, यद्यपि इसका अधिकाश भाग चोल–उपद्रव के पूर्व ही लिखा जा चुका था। प्रपन्नामृत मे एसद्विषयक कोई उल्लेख नहीं है किन्तु वर्णनक्रम के आधार पर चोल उपद्रव के पूर्व ही श्री भाष्यलेखन ध्वनित होता है। वेदार्थ–सग्रह मे आचार्यवाद ने स्वतत्ररूप से विशिष्टाद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन किया है। 'वेदान्तसार' एव 'वेदान्तदीप' नामक ग्राथ की रचना ब्रह्मसूत्रो की सक्षिप्त व्याख्या रूप है। 'गीताभाष्य' मे रामानुज ने गीता को 'भक्तिशस्त्र' के रूप मे निरूपित किया है।

श्री वेष्णव–सम्प्रदाय में उपर्युक्त ग्रन्थ ही आचार्य रामानुज द्वारा प्रणीत माने जाते है। इन ग्रन्थो के अतिरिक्त भक्ति चन्द्रिकाकार स्वामी नारायण तीर्थ ने शाण्डिल्य भक्तिसूत्र के व्याख्याकार के रूप में आचार्य रामानुज का ससम्मान उल्लेख किया है[17]।

श्री नारायण तीर्थ के इस उल्लेख के आधार पर आचार्य श्री रामानुज स्वामी शाण्डिल्य सूत्र के भाष्यकार (व्याख्याकार) सिद्ध होते है। सम्प्रति यह व्याख्या उपलब्ध नहीं है।

संदर्भ एवं टिप्पणी

1 भारतीय दर्शन का इतिहास — डा० एस० एन० दास गुप्त पृ०स० 61

2 भूत सरश्च महाद्वय भट्टनाथ श्री भक्तिसार कुलशेदार योगिवाहान्

भक्ताड्घ्रिरेणु परकाल यतीन्द्रमिश्रान् श्रीमत्पराङ्कुशमुनि प्रणतोऽस्मिनित्यम्।

(गुरूपरम्परा मे उद्धत)

3. वैष्णव सम्प्रदाय का प्राचीन इतिहास — एस० के० आयंगर

पृष्ठ 4-13

4 वही — पृष्ठ स०— 33

5 स्व० श्री गोपीनाथ राऊ द्वारा सुब्रह्मण्यम् — आयर व्याख्यान माला—1923 पृष्ठ स०— 17

6 कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणा।

क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः।।

ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी।

कावेरी च महापुण्या प्रतीची व महानदी।।

(श्रीमदभागवतपुराण—11/5/38-39/40)

7 वैष्णव —शैव और उपसंम्प्रदाय, पृष्ठ स० —61

8. भक्तदास इक भूप श्रवन सीता हर कीनौ।

'मार—मार' करि खड्ग बाजिसागर मे दीनौ।

(भक्तमाल छप्पय— 44)

यहाँ नाभादास ने कुलशेखर का भक्तदास के नाम से उल्लेख किया है।

9 प्रपन्नामृत अध्याय स० – 107

10 पितामह नाथमुनि विलोक्य प्रसीद मद्वृत्तमचिन्तायित्वा ।

(स्तोत्ररत्न श्लोक सख्या–68)

11 एक प्रधान पुरूष विवादध्यसित जगत।
चेतना चेतनात्मत्वादेकराजकदेशवत् ।।

(सिद्धित्रय–पृ० स०– 265)

12. तवदास्य सुखैकसांगिना
भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे।
इतरावसथेषु मास्म भू
दार्पमेजन्म चतुर्मुखात्मना।।

(स्तोत्ररत्न श्लोक सख्या–58)

13. न निन्दित कर्म तदस्ति लोके सहस्रशोयन्न मया व्यधायि।
सोऽह विपाकावसरे मुकन्द । क्रन्दामि सम्प्रत्यगति सत्वाग्रे।।

(वही श्लोक सख्या –26)

14. स्वधर्म ज्ञान वैराम्य साध्य भक्त्येक गोचर ।
नारायणः परब्रह्म गीताशास्त्रे सभीरित ।।

(गीतार्थ सग्रह–1)

15. चैत्रमेषे शुक्लपक्षे पञ्चम्यां गुरूवासरे।
मध्यान्हे कर्कटे लग्ने नक्षत्रे रूद्र दैवते।।

(प्रपत्रामृत 1/25-26)

16 रामानुजोप्येवमुदार बुद्धिस्त्यक्त्वा तदातस्य गुरोर्निवासम्।
उवास सन्तुष्ट मना स्वगेहे वेदान्ततत्त्वार्थविचरदक्ष ।।

(वही 3/61)

17 भक्तिचन्द्रिका पृष्ठ– 113

द्वितीय-अध्याय

रामानुज - पूर्व पौरस्त्य - चिंतन में भक्ति

१- वेदों में भक्ति

२- ब्राह्मण-ग्रंथों में भक्ति

३- आरण्यकों में भक्ति-तत्व

४- उपनिषदों में भक्ति

५- पौराणिक-आख्यानों में भक्ति

६- रामायण एवं महाभारत में भक्ति-तत्व

७- पाञ्चरात्र-आगमों में भक्ति

८- नास्तिक-दर्शनों में भक्ति

९- भक्तिसूत्रों में भक्ति-तत्व

१०- अद्वैत-वेदान्त में भक्ति-तत्व

प्रारम्भ से ही प्रकृति के अतिमानवीय सदर्भो का अवलोकन करके मानव उसके प्रति जिज्ञासु रहा है। इसी क्रम मे उसने अनेकानेक अनुसधान किये हैं, आवश्चर्यजनक तथ्यो को देखकर उनके समक्ष वह श्रद्धावनत हुआ है एव उसमें दैवी शक्ति का आधान भी किया है। अग्नि, वृक्ष, पृथ्वी आदि प्रकृति के विभिन्न रूपो की पूजा के मूल में मनुष्य का यह श्रद्धा–भाव स्पष्ट दिखाई पडता है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही विकसित स्वरूप श्रद्धा, उपासना ध्यान और भक्ति है। इसी क्रम मे जब हम भक्ति का मूल चिंतन मे ढूँढने अग्रसर होते है तो हमारे सामने विश्व का प्रारम्भिक साहित्य 'वेद' ही आता है पौरस्त्य जनमानस वेदो क प्रति श्रद्धा रखने के कारण ही आस्तिक कहलाता है तथा वेदो की अपौरूषेयता एव आप्तवाक्यता मे एकनिष्ठता रखता है। भारतीय दर्शनो मे भी पूर्व मीमांसा एव उत्तरमीमासा को पूर्णतया वेदो पर आधारित माना गया है और उत्तरमीमासा को ज्ञानकाण्ड तथा पूर्व मीमासा को वेदो मे निहित कर्मकाण्ड से जोड़ा गया है। इनमे उत्तरमीमासा के अन्तर्गत ज्ञानकाण्ड या औपनिषदिक चितन आता है जिसकों आधार बनाकर अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत दो धाराये विकसित हुई है। एक समय तो ऐसा आया जब वेदो के ज्ञानकाण्ड का महत्व इतना अधिक हो गया कि दर्शन को उपनिषद्मूलक सिद्ध करने के लिए नित नये उपनिषदो की रचना होने लगी एव यह प्रश्न अत्यधिक व्यापक हो गया कि 'तम् त्वौपनिषदम् पुरुष् पृच्छामि'। इसी वेदो की सर्वोपरिता एवं आप्तवाक्यता के मूल मे कहीं न कहीं भक्ति का वह उत्स विद्यमान है जो परवर्ती काल मे एक आदोलन या दर्शन बनकर सहस्राब्दियों जनमानस को आश्वस्त करता रहा है, आप्यायित करता रहा है। भक्ति के उद्‌गम् को लेकर पश्चिमी विद्वानो का मत मूलत उनके औपनिवेशिक दृष्टिकोण से प्रवर्तित रहा है, जो निंद्य है। वे भक्ति का मूल ईसाई धर्म में मानते हैं तथा भारतवर्ष की भक्ति का प्रेरणास्रोत उसे ही मानते हैं। इस भ्रान्त एवं पूर्वाग्रह ग्रस्त मत के प्रचारक 'कीथ' जैसे कुछ विद्वान है। परन्तु ध्यातव्य है कि इन अधिसंख्य पाश्चात्य मनीषियों ने भारतीय इतिहास धर्म और चिंतन का अध्ययन ज्ञान

की दृष्टि से नहीं अपतु दोषा–वेषण की दृष्टि से किया। ऋग्वेद समेत वैदिक–वाग्मय की प्राचीनता एव भक्तिमूलकता निर्विवादरूपेण सिद्ध होने के उपरान्त भी भक्ति को ईसाई धर्म का प्रभाव बतलाना, पाश्चात्य विचारको के इसी दृष्टिकोण का फल है।

वेदों में भक्ति :-

वेदो मे सर्वाधिक प्राचीन ऋग्वेद मे भक्तितत्व का मूल मिलता है। वेदो के क्रमश चार भाग ये है, जिनमे हमे भक्ति तत्व बीज रूप मे प्राप्त होता है – सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। सहिताओ में यज्ञादि कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने हेतु वैदिक ऋषियो के द्वारा विभिन्न देवताओ की प्रार्थनाये एवं स्तुतिया की गयी है। वेदो की इन ऋचाओ के गाढ अनुशीलन से स्पष्ट है कि भक्ति का जो स्वरूप परवर्ती आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है, वह अपने विकसित रूप मे इन वेदो में भले ही न उपलब्ध हो किन्तु इसका मूल तत्व 'अनुराग' इन स्तुतियो मे साफ दिखता है। इन स्तुतियो की मार्मिकता यह ज्ञापित करती है कि स्तोता अपने आराध्य के प्रति प्रेम के वशीभूत होकर समर्पित है। इतनी कोमलता एव भावुकता से परिपूर्ण ये स्तुति मत्र यह प्रमाणित करते है कि प्रार्थनायें करने वाले वे वैदिक ऋषि भक्ति स्निग्ध हृदय युक्त रहे हैं। इतना ही नहीं, माता–पिता और मित्र आदि भावो से भावित होकर भी ऋषियो ने भक्ति के विविध उपागो का सम्यक् निदर्शन किया है। परवर्ती साहित्य मे कल्पित नवधा भक्ति[1] किसी न किसी रूप मे वैदिक साहित्य मे उपलब्ध होती है। नवधा भक्ति का प्राणरूप 'स्मरण', जो आचार्य रामानुज के मत में भी भक्तिरूपता का प्राण रूप है, वैदिक संहिताओ में स्पष्टत प्राप्त होता है। वैदिक ऋषि भगवान विष्णु का स्मरण एव कीर्तन करने वाले भक्तो के प्रति उनकी भक्तवत्सलता का वर्णन करते हुए कहता है कि –

विचक्रमे पृथिवीमेष एता
क्षेत्राय विष्णुर्मतुषे दशस्यन्।

ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास

उरुक्षिति सुजनिमा चकार।।

(ऋग्वेद 7/100/4)

इसका भाव्य करते हुए सायण ने 'मनुषे' का अर्थ स्मरणशील भक्त और 'कीरय' का अर्थ कीर्तनशील किया है। गायत्रीमत्र मे सवित्रदेव के ध्यान का विधान नवधा भक्ति का ही एक अन्यतम् अग है, यह प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार ऋग्वेद की एक अन्य श्रुति भी कीर्तन की ओर सकेत करती है, जिसमे साधक अपने द्वारा कीर्तित मन्त्रो के विष्णु तक पहुँचाने की कामना करता है[2]। इसी तरह एक अन्य मत्र मे श्रवण, कीर्तन के साथ ईश्वर के प्रति सर्वस्व समर्पण का भी उदाहरण मिलता है –

य पूर्व्याय वेध से नवीयसे

सुमज्जानये विष्णवे ददाशति।

यो जातमस्य महतो महिब्रवत

सेद् श्रवोभिर्युज्य चिदभ्यसत्।।

(ऋग्वेद 1/156/2)

अर्थात् जो कारण स्वरूपकर्त्ता नित्य–नूतन विष्णु के लिये सब कुछ अर्पित करता है, जो महान विष्णु के जन्मादि का वर्णन करता है, श्रवण करता है वह गन्तव्य उत्तम पद को प्राप्त होता है। यहा भक्ति मोक्ष–साधिका के रूप मे प्रयुक्त हुई है, यह असदिग्ध है।

ऋग्वेद मे भगवान् के दिव्य श्री विग्रह के चरणकमलो की सेवा का भी प्रसग आया है।

ऋषि का कथन है कि–

यः त्री पूर्णा मधुना पदा–

न्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।

य उ त्रिधातु पृथिवीमुत–

द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा।।

इस मत्र की व्याख्या मे सायण 'स्वधयामदन्ति' पद के द्वारा भगवान् विष्णु के पाद–पद्म–सेवा से मिलने वाले सर्वफल प्रदायक भक्तो की प्रसन्नता का अर्थ स्वीकार करते है। इसके अतिरिक्त भक्ति के वन्दन, अर्चन आदि रूपो का भी ऋग्वेद मे साक्ष्य मिलता है। ऋग्वेद मे ऋषि अग्नि को दीप्तिमान और अच्छा कहकर प्रणाम करता है[3]। एक अन्य ऋचा मे ऋषि मनुष्यो को प्रणाम के साथ महान आदित्य को प्राप्त करने की सलाह देता है[4]। इसी प्रकार अनेक स्थानो पर ऋग्वेद मे ऋषियो के द्वारा किया गया आराध्य वदन मिलता है। साथ ही, ऋग्वेद मे दास्य–भाव की भक्ति का भी प्रामाण्य उपलब्ध होता है –

त्रिर्देव पृथिवीमेष एता

विचक्रमे शतर्चष महित्वा।

प्र विष्णुरस्तु तवसस्तवियान्

त्वेष ह्यस्य स्थविरस्य नाम।।

(ऋग्वेद 7/100/3)

इस श्रुति को प्रमाण मानकर भक्ति चन्द्रिकाकार श्रीनारायणतीर्थ दास्य भक्ति की वेद्मूलकता को स्वीकार करते है। उनके अनुसार श्रुति मे वर्णित विष्णु का 'महत्त्' नाम वाला होना साधक के दास होने से ही सगत बैठता है। ऋग्वेद के एक अन्य मत्र मे ऋषि ईश्वर की सेवा का उसी प्रकार आकांक्षी है, जिस प्रकार एक भृत्य अपने स्वामी की सेवा का आकांक्षी होता है[5]। इसके अतिरिक्त सख्य–भाव की भक्ति का विधान भी ऋग्वेद मे प्राप्त होता है। एक श्रुति में विष्णु और वैदिक ऋषि के मध्य बन्धु–भाव का निदर्शन है, जो सख्य–भाव की समानान्तर वृति है–

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्या

नरो यत्र देवयवो मदन्ति।

उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था

विष्णो पदे परमे मध्व उत्स ।।

(ऋग्वेद 1/154/3)

ऋग्वेद के विश्वेदेवा सूक्त मे भी सख्य–भाव की भक्ति की पर्याप्त व्यजना मिलती है। नवधा भक्ति के अन्तर्गत वर्णित 'आत्मनिवेदन' भक्ति का प्राणतत्त्व है। रामानुज के 'विशिष्टाद्वैत' मे प्राप्त 'प्रपत्ति' इसी आत्मनिवेदन का पर्याय है। यह आत्म निवेदन 'अनुकूलस्य सकल्प' अर्थात् ईवराभिमत् गुणो के अर्जन के रूप मे, 'प्रतिकूलस्य वर्जनम्' अर्थात् ईश्वर के प्रतिकूल गुणों के परित्याग के रूप में, ईश्वर के आत्म–रक्षार्थ निवेदन के रूप में, ईश्वर के प्रति अपनी तुच्छता का अनुभव करने के रूप मे, अनेकश स्पष्ट होता है। अपनी कल्याण–कामना करता हुआ वैदिक ऋषि, रक्षार्थ प्रभु से, उन्हे उनकी सामर्थ्य का स्मरण दिलाता हुआ, प्रभु के प्रति समर्पित हो जाता है–

सूत्रमाण पृथिवीं द्यामनेहस

सुशर्माणमदिति सुप्रणितिम्।

दैवी नावं स्वरित्रमनागसम्–

स्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये।।

(ऋग्वेद 8/63/10)

अपनी रक्षा के लिए प्रभु को आर्त–भाव से पुकारता हुआ वैदिक ऋषि वस्तुत शरणागत भक्त की ही भूमिका में है। वह निवेदन करता है कि–

प्र महिष्ठाय बृहन्तेबृहद्रये

सत्यसुषमायं तवसे मति भरे।

अयामिव प्रवणे यस्य दुर्धर

राधो विश्वायु शवसे अपावृतम्।।

(ऋग्वेद 1/57/1)

अर्थात् हे प्रभु ! आज मैं आपके महान से महान प्लावित जल के समान दुर्निवार, सब के लिए अनावृत और बडी से बडी शक्ति देने वाले रक्षक स्वरूप को मति मे धारण करता हूँ, हृदय से वरण करता हूँ।

वय घाते, त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि ष्मसि।

न हि त्वदन्य पुरुहुत कश्चन मद्यवन्नस्ति मर्डिता।।

अर्थात् हे इन्द्र ! आप पूर्व हूत है। आपको अनेको भक्त अनेको बार पुकार चुके है। आप के समान शक्ति और सुख का दाता दूसरा कोई भी नही है। हम आपके ही हैं, आपके ही सहारे हमारा सर्वस्व सुरक्षित हो सकता है।

ये दोनो श्रुतियॉ आर्त्त की रक्षा मे समर्थ भक्तवत्सल भगवान का बिम्ब रूपायित करती है। दैन्य भाव की एव अपनी तुच्छता का प्रदर्शन करने वाली वृति का प्रकाशन भी ऋग्वेद मे भिन्न–भिन्न स्थानो पर मिलता है। इसी प्रकार वैदिक ऋषि एक अन्य स्थल पर अपनी दीनता का प्रदर्शन करते हुए इन्द्र से कहता है कि ये सासारिक बाधाये हमे वैसे ही खाये जा रही है जैसे चूहा आटे से लिपटे हुए सूत को खाता है[6]। इस प्रकार भक्ति के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त वैदिक ऋषि अपने आराध्य अग्नि, इन्द्र, आदित्य, रूद्र, वरूण, प्रजापति और विष्णु आदि के साथ कहीं माता–पुत्र, कही पिता–पुत्र और कहीं पति–पत्नी भाव से भी तादात्म्य स्थापित करते है। ऋषियो की ये प्रार्थनाये इतनी सहज और सुन्दर हैं कि इनमे भक्ति–भाव–राहित्यकल्पना उपहासास्पद ही लगती है। वैदिक ऋषि इन्द्र से पिता का ही नहीं, माता का सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहते हैं कि –

त्व हि न पिता वसो त्व माता शतक्रतो वभूषिथ।

अथा ते सुम्नमीमहे।।

(ऋग्वेद –8/9/11)

इस प्रकार वेदो मे भक्ति के आलम्बन के रूप मे इन्द्र, विष्णु, रूद्र, मारूत, वरूण, आदि को माता, पिता, सरक्षक, शरणागतवत्सल, सर्वपापसहारक, मुक्तिदाताआराध्य की भूमिका मे कल्पित किया गया है। यद्यपि दाम्पत्य–भक्ति के उदाहरण के रूप मे महज कुछ स्थल ही वेदो मे प्राप्त होते है परन्तु वे जहॉ भी प्राप्त होते है, दाम्पत्य–भाव का स्फुट निदर्शन करते है। ऋग्वेद की एक ऋचा मे बुद्धियो के आराध्य स्पर्श का उल्लेख, कामनाशील पत्नी का कामना युक्त पति के स्पर्श की उपमा के साथ किया गया है[7]।

इस प्रकार सागोपांग, जो भक्ति पौराणिक काल में सस्थागत रूप मे विकसित हुई और एक सुसम्बद्ध निकाय मे परिणत हुई, उसका उत्स वैदिक ऋचाओ एवं मंत्रो मे प्राप्त होता है। चूँकि ऋग्वेद की ऋचाओ का पुनरावर्तन 'यजुर्वेद' एव 'सामवेद' में ही हुआ है, अतएव वे सभी उदाहरण उनमे भी यथावत हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वैदिक वाग्मय रूपी कलश मे भक्ति रूपी अमृत पूरित है जो अद्यपर्यन्त सुधीजनो के मानस को अभिसिचित कर तृप्त कर रहा है।

<u>ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति :-</u>

ब्राह्मण ग्रन्थ, संहिताओ की व्याख्या के रूप मे पौरस्त्य मनीषा मे एक नया आयाम जोडते है। इन ब्रह्मण ग्रन्थो की भक्ति विषयक विशेषता यह है कि इनमे जप का विधान किया गया हैं। जप निश्चित रूप से परवर्ती भक्ति का एक प्रधान अंग है। भक्ति के अंग मे नाम जप की महिमा, सम्पूर्ण वांग्मय में प्राप्त होती है। चाहे कोई भी सम्प्रदाय हो या साधना की विधि, आत्मोन्नति हेतु की गयी तपश्चर्या हो या परबाधानिवारार्थक यज्ञकार्य–सम्पादन,

जप का महत्व सर्व विदित है। कहा भी गया है –'तद्जपस्तदर्थभावनम्'। जप के विधान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थो मे भक्ति के विकास की पुष्टि हुई है। ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषितकि ब्राह्मण मे 'ओऽम्' की उत्पत्ति एव उसके जप की महत्ता का वर्णन मिलता है। यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थो मे भक्ति का विवरण सीधे–सीधे तो नही प्राप्त होता परन्तु भक्ति के अनिवार्य अगो यथा–प्रेम, द्वेषराहित्य, प्रणवादिजय, शुचिता, दिव्यता, अक्रोध, ध्यान, नमस्कार, प्राणिपात, अर्चना, स्तुति आदि का विधान उनमे स्पष्टता से हुआ है। शतपथ ब्राह्मण (4/2/3/11) मे गायत्री की प्रशंसा और जप का विधान तथा (4/2/6/12) मे 'ओऽम्' के जप का विधान मिलता है। प्रेम भक्ति का मूल तत्व है। शतपथ ब्राह्मण मे देवो के प्रिय होने की बात कही गयी है (2/3/2/34)। सामवेद का आर्षेय ब्राह्मण प्रमाद रहित होकर अपनी कामना को ध्यान मे रखते हुए, प्रभु के समीप ध्यान द्वारा तन्मय–भाव से स्तुति करने का निर्देश करता है[8]। इसी प्रकार सामवेद मे भी 'ओऽम्' की महत्ता स्पष्टत प्रतिपादित की गयी है। गोपथ ब्राह्मण, जो अथर्ववेद का ब्राह्मण है, उसमे भी प्रणव के जप का गुणगान एव ध्यान एव स्तुति का भक्ति के अर्थ मे ही विधायन प्राप्त होता है। सामवेद मे मूलत विविध शक्तियो की उपासनाये मिलती हैं। चूँकि गोपथ ब्राह्मण मे सामवेद को निरिबल वैदिक साहित्य का प्राणतत्व स्वीकार किया गया है, अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि सामवेद मे वर्णित उपासना भक्ति की समानार्थक है। इस दृष्टिकोण से भी भक्ति अपने विविध अभिव्यजनापटलो पर सक्रिय दिखती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थो मे भक्ति प्राणतत्व के रूप मे अनुस्यूत है। ब्राह्मण ग्रन्थो के मुख्य प्रतिपाद्य, यज्ञीय कर्मकाण्ड के सम्पादनार्थ यजमान मे श्रद्धा के तत्व की उपस्थिति सर्वाधिक महत्व रखती है। श्रद्धा, भक्ति का आधार है। आस्तिक्य बुद्धि से उपजा समर्पण, भक्त को प्रभु के समक्ष निष्पाप, निर्दोष व निष्कलक बना देता है। श्रद्धा भाव से किये गये इसी सर्वांग समर्पण के द्वारा ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरूषार्थ सधते हैं तथा व्यक्ति परमसत्ता से अभिन्न हो उठता है। श्रद्धा के अभाव मे सम्पूर्ण वैदिक कर्म निष्फल हो जाते हैं। अतएव स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थो के प्रतिपाद्य यज्ञीय कर्मकाण्डो मे विद्यमान श्रद्धा का विकसित रूप ही भक्ति है।

आरण्यकों में भक्ति-तत्व :-

वैदिक वाग्मय मे आरण्यक मनन की स्थितियो से सम्बद्ध है। इनमे बहिर्योग की अपेक्षा अन्तर्योग का प्राधान्य मिलता है। अरण्य मे रहने वाले ऋषि मुक्तिकामी जनो के सहायतार्थ, लोकमगल के निर्वहनार्थ गिरि–कन्दराओ मे जाकर जीवन व जगत के सूत्रो व सचालक की तलाश करते थे। यह सब कुछ प्राकृत जनो के प्रति उमडने वाली करूणा–मन्दाकिनी से प्रेरित होकर ही हुआ है। यह करूणा थी तो मननात्मक किन्तु आरण्यक ऋषियो द्वारा इससे वर्धमान भक्ति वृक्ष का ही यथासभव अभिषेचन हुआ है।

एक सत्ता के प्रति समर्पित होने का भाव तभी आता है, जब एकान्त मे चिंतन के द्वारा ऋषि यह जान लेता है कि 'उस' एक ही परमतत्व के विभिन्न रूपो के दर्शन हमे पृथक–पृथक शास्त्रो मे होते है। ऋग्वेद की एक ऋचा मे कहा गया है कि 'तत्व' एक है, जिसे विप्रगण अग्नि, यम और मातरिश्वा के नाम से अभिहित करते है[9]। ऋग्वेद और यजुर्वेद के मध्य समान रूप से विद्यमान सम्पूर्ण 'पुरूष–सूक्त' समस्त प्राणीमात्र मे एक आत्मा के अस्तित्व पर बल देता है और विष्णु को सर्वोच्च देव के रूप मे प्रतिष्ठापित करता है। कालान्तर मे रचे जाने वाले भक्ति–विषयक विभिन्न ग्रन्थो मे पाई जाने वाली वैष्णवी सर्वोच्चता का आधार वस्तुत वेदो मे वर्णित विष्णु की यही सर्वोच्चता है। इस प्रकार अन्तर्योग के द्वारा, विविधता मे अनुस्यूत तात्विक एकता के निदर्शन के द्वारा इन आरण्यक ऋषियो ने व्यक्ति को मुक्ति से जुडने का सीधा मार्ग दिया, यह निर्विवाद है।

उपनिषदों में भक्ति :-

वेदों के अन्तिम भाग को उपनिषद् कहा जाता है। इन्हे ही वेदान्त की संज्ञा से भी विभूषित किया जाता है जो वस्तुत ज्ञान की समग्रता है। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकों ने भक्ति के जिस बिरवे को विभिन्न भावों से सींचकर बड़ा किया, उपनिषदों ने उस विकास को उचित गति प्रदान की। भक्तितत्व के आचार्यो ने उपासना, ध्यान त्याग आदि को भक्ति का

पर्याय मानते हुये उपनिषदो मे भक्ति के बीज ढूँढे हैं। एक समय उपनिषद् इतने महत्वपूर्ण हो गये कि प्रभूत उपनिषदो की रचना अपने–अपने विचारो को उपनिषद् मूलक सिद्ध करने के लिए की गयी। इन उपनिषदो मे 'परमतत्व' की प्राप्ति ज्ञान, उपासना, त्याग एव समर्पण द्वारा तथा ध्यान द्वारा भी कही गयी है। श्वेताश्वतरोपनिषद् मे 'भक्ति' का स्पष्ट उल्लेख हुआ है–

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरो।

तस्येते कथित ह्यर्था प्रकाशते महात्मन ।।

(श्वे० 6/23)

इसी श्रुति मे परमात्मा की भक्ति के साथ ही गुरू की भक्ति का भी प्रतिपादन किया गया है। भक्ति के मूल स्वर अंह का विसर्जन एव शरणागति का श्वेताश्वरतोपनिषद् मे स्पष्ट वर्णन है[10]। ईश्वर की कृपा से प्राप्त होने वाले मनोरथो सहित मुक्ति का विधान भी श्वेताश्वतरोपनिषद् मे स्पष्टतया हुआ है–

अणोरणीयान् महतो महीया

नात्मा गुहाया निहितोऽस्य जन्तों ।

नमक्रतु पश्यति वीतशोको

धातु प्रसादान्महिमानमीशम् ।।

(स्वे०–3/20)

कठोपनिषद् मे भी इसी प्रकार मुक्ति के प्राप्त होने मे ईश्वर की कृपा का स्पष्ट उल्लेख हुआ है[11]। उपनिषदो में ज्ञान अनेक स्थानो पर मोक्षविधायक माना गया है। इसी क्रम मे उपासना भी उपनिषदो में 'परमतत्तव' की प्राप्ति का हेतु बनकर उपस्थित हुई है, जिसके विभिन्न रूप प्राण, साम, गायत्री और प्रणवादि हैं। इन समस्त प्रतीकोपासनाओ मे प्रणव अर्थात् 'ओकार' की उपासना सर्वश्रेष्ठ है। मान्डूक्योपनिषद् में केवल प्रणवोपासन का ही

विधान है, जिसके अनुसार ओकार के मातृक और अमातृक दो रूप हैं। मातृक प्रणव अकार, उकार, मकार से मिलकर बना है। इसमे अकार वैश्वानर, उकार तैजस और मकार प्राज्ञ का बोधक है। इन मात्राओ के आश्रय से प्रणवोपासक क्रमश विश्व, तेज और प्राज्ञ को प्राप्त करता है[12]। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् मे, प्रश्नोपनिषद् मे तथा छान्दोग्योपनिषद् मे ओकार की विविधरूपिणी उपासनाओ को बताया गया है। जहॉ एक ओर प्रश्नोपनिषद् मे त्रिपाद ओकार की उपासना का वर्णन है वहीं छान्दोग्योपनिषद् मे ओंकार की उपासना उद्गीथ के रूप मे करने की बात कही गयी है[13]।। इस प्रकार इन उपनिषदो मे भक्ति के ये अग पूरी क्षमता से अपने को निदर्शित करते है भक्ति का सर्वाधिक प्रधानतत्व समर्पण एव अहभाव का विसर्जन इन विवेचना मे साक्षात् मूर्त्ति मन्त होता है। ध्यान की प्रक्रिया मे, जो एक प्रकार से नवधा भक्ति के 'स्मरण' का प्रतिरूप ही है, साधक किस प्रकार चिद्रूपता को प्राप्त करता है, यह सत्य उपनिषदो मे अनावृत है। ईश्वर का ध्यान, आत्मा का ध्यान एव अन्तत ध्यानमात्र प्रमुख रूप से उपनिषदो का वर्ण्य विषय है।

श्रद्धा, जो भक्ति का एक अन्य आवश्यक उपादान है, उसका प्रकाशन भी औपनिषदिक साहित्य मे हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् का कथन है कि विज्ञान से युक्त जो कर्म होता है वह श्रद्धा और योग के द्वारा प्रबल हो जाता है[14]। मुण्डकोपनिषद् मे श्रद्धा को भी तप के साथ–साथ अमृत–पुरूष अर्थात् ब्रह्म की प्रप्ति का कारण कहा गया है –

तप· श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्या चारन्त·।
सूर्यद्वारेण ते विरज· प्रयान्ति
यत्रामृत सपुरूषो ह्यव्ययात्मा।।

(मुण्डकोपनिषद्–1/2/11)

नवधा भक्ति के अन्य अंगों–अर्चन, वंदन, आत्मनिवेदन आदि का भी स्पष्ट विधान

उपनिषदो मे दिखाई पडता है। ईशावास्योपनिषद् मे ऋषि के द्वारा की गयी अग्नि की वन्दना प्राप्त होती है, जिसका अभिप्राय सत्य ब्रह्म से है –

अग्नेनय सुपथा राये चस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्धान।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठा तेनम उक्ति विधेम।।

(ईशा०–मत्र स० – 15)

इसके अतिरिक्त भक्तितत्व के उद्भव मे सहायक स्वाध्याय, ज्ञान, तप और त्याग तथा अन्तकरण की पवित्रता का भी औपनिषदिक साहित्य मे उल्लेख प्राप्त होता है। मुण्डकोपनिषद् मे इनके महत्व को ईश्वर प्राप्ति के लिए साधन के रूप मे स्वीकार किया गया है[15]। इस प्रकार निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि भक्ति के जो बिन्दु सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक इत्यादि ग्रन्थो मे इतस्तत बिखरे हुये थे, औपनिषदिक चितन मे वे ही बिन्दु विराटता को प्राप्त होने लगे। यद्यपि उपनिषदो मे भक्ति मूर्त रूप मे तो नहीं दिखती पर उसके सयोजक तत्व अपनी पूरी आभा के साथ साहित्य मे मणिकाचन–योग दे रहे है।

पौराणिक आख्यानों में भक्ति :-

पुराण पौरस्त्य चिंतन की वे निधियॉ हैं, जो आर्यावर्त के बहु–आयामीय बौद्धिक पटल को उद्घाटित करती है। भिन्न–भिन्न देवो के स्वरूप का उद्घाटन, जीवन एव जगत को प्रेरणा देती हुई कथाओं का निर्माण एव मानव को उसकी पूरी गरिमा मे प्रतिष्ठित करने वाले मूल्यों का निर्वचन पुराणो में ही हुआ है। यहॉ आकर भक्ति पर्याप्त विकसित एव भावदीप्त हो जाती है।

'विष्णु पुराण' भक्ति की इस धारा को अपने मे सम्पूर्ण वेग से प्रवाहित होने देता है। 'प्रह्लाद' की अविचल भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान नृसिंह जब वरदान मॉगने को कहते

हैं तो प्रह्लाद प्रत्येक योनि मे कभी स्खलित न होने वाली भक्ति को वर स्वरूप मॉगते है –

कुर्वतेस्ते प्रसन्नोऽह भक्तिमव्यभिचारिणी।

यथाभिलषतो मत्त प्रह्लाद व्रियता वर ।।

योनि–योनि सहस्रेषु येषु–येषु ब्रजाम्यहम्।

तेषु–तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि।।

(विष्णु–पुराण 1/20/17/18)

इस प्रकार विष्णु पुराण के प्रकरण से यह स्पष्ट होता है कि पौराणिक भक्तो के लिए काम्य मुक्ति नहीं, भक्ति है। इसी पुराण मे भक्ति को परिभाषित करते हुए प्रह्लाद कहते है कि अविवेकी जनो की जिस प्रकार की अविचल प्रीति विषयों के प्रति होती है, उसी प्रकार की प्रीति भक्त की भगवान् के प्रति होनी चाहिये। प्रहलाद ने मुक्ति को भक्त के हाथो मे स्थित माना है–

धर्मार्थकामे कि तस्य मुक्तिर्यस्य करे स्थिता।

समस्त जगता मूले यस्य भक्ति स्थिरा त्वयि।।

(वि० पु० 1/20/27)

इसी प्रकार पद्म पुराण मे भी भक्ति को समस्त पापविनाशिनी एव मुक्तिप्रदायिनी माना गया है। भक्ति का विभाजन यहॉ विभिन्न अंगोपागो में किया गया है। सर्वप्रथम भक्ति, मानसी, वाचिकी और कायिकी के रूप मे बॉटी गयी है। इसके बाद उसे लौकिकी, वैदिकी एवं आध्यात्मिकी रूपों में विभाजित किया गया है। आध्यात्मिकी भक्ति का विभाजन पुन साख्यजा और योगजा के रूप मे किया गया है। इसके अतिरिक्त भक्ति सात्विकी, राजसी व तामसी के रूप में भी विभाजित की गयी है। शिवपुराण में भी भक्ति मुक्ति का साधन एव अनेकानेक जन्मों के सुकृत का प्रतिफल है। यह भक्ति भगवान के प्रसाद से उत्पन्न होती है–

अयोग्यानां च कारूण्याद्भक्ताना परमेश्वर ।

प्रसीदति न सन्देहो निगृह्य विविधान् मलान्।।

प्रसादादेव सा भक्ति .. . ।।

शिवपुराण मे भी भक्ति को सेवा युक्त मानकर मानस, वाचिका और कायिक तीन रूपो मे विभक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त सेवा रूप भक्ति पुन तप, जप, कर्म, ध्यान और ज्ञान रूप से पचधा विभाजित की गयी है। इसी प्रकार 'मत्स्य पुराण' में भी भक्ति इहबधन–विनाशिका और मोक्ष–साधन भूता कही गयी है –

भक्तिभवभेदकरि मोक्षाय विनिर्मितानाथ।

(मत्स्यपुराण 192/42)

भागवत् पुराण :-

भक्ति का सर्वाधिक विकसित रूप 'श्रीमद्भागवत्पुराण' मे ही दृष्टिगोचर होता है। लीलापुरूषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और वेदो की ऋचाओ की मूर्तरूप गोपियो के मध्य का अन्योन्याश्रय इस पुराण मे प्राप्त भक्ति को अलौकिकत्व प्रदान करता है। सम्पूर्ण विश्ववाग्मय मे अपने आप मे अद्धितीय यह भक्ति मोक्षप्रदायिनी है। यह भक्ति भगवान् श्रीकृष्ण मे अहैतुकी या विक्षेपरहित भक्ति है। जीव के लिए इसके अतिरिक्त कुछ और काम्य नहीं –

स वे पुसा परो धर्म यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहेतुक्यप्रतिहता ययऽऽत्मा सम्प्रसीदति।।

(श्रीमद्भागवतपुराण 1/2/6)

भागवद्कार का मानना है कि भक्ति की तुलना में मोक्ष भी काम्य नही है। वह सारी विपत्तियों को सहकर भी भगवान् कृष्ण के दिव्य श्रीविग्रह का दर्शनाभिलाषी है। दान,

व्रत, जप, तप, हवन, स्वाध्याय आदि विभिन्न साधनो के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति की जा सकती है–

दानव्रततपोहोमजनस्वाध्यायसयमै ।

श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यै कृष्णे भक्तिर्हिसाध्यते ।।

(श्रीमद्भागवत् पुराण 10/47/24)

भक्ति का स्वरूप भगवान् श्री कृष्ण के प्रति अनन्यत्व है। उपर्युक्त साधनो के अतिरिक्त, जिस किसी भी प्रकार से, जिस किसी भी भाव से भागवान् मे चित्त रम सके, वही भक्ति है। गोस्वामी तुलसीदास के विवेचन मे भाव–साम्य दृष्टव्य है –

भाव–कुभाव अलख आलसहूँ।

जपत नाम मगल दिसि दशहूँ।।

भागवत्कार भी इसी भाव का विवेचन उपलब्ध कराते है। अर्थात् ईश्वर के प्रति प्राणी की भक्ति स्नेह या प्रेम से अनुप्राणित ही हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। गोपियो ने काम भाव से, कस ने भयभाव से, शिशुपाल ने द्वेष–भाव से और गोपो ने सम्बन्ध–भाव से श्रीकृष्ण का ध्यान किया और वे सब गोलोकवासी हुए, यह उपर्युक्त सत्य को प्रमाणित करता है। यहॉ भक्त के भाव का नही वरन् भक्तियोग से भक्त की ईश्वराराधना का ही महत्व है। भक्त, ईश्वर का आराधन चाहे जिस प्रकार करे, वह सकारात्मक हो या नकारात्मक, उसे ईश्वरोन्मुख होना ही चाहिये –

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी।

तीव्रेण भक्तियोगेन व्रजेत् पुरूष परम्।।

(श्रीमद्भागवत् 2/3/10)

भागवत्कार तो व्यक्ति की तन्मयता के लिए कभी–कभी वैरभाव को भक्ति–योग से श्रेयस्कर मान बैठते है –

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् ।

न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्तिामति ।।

(श्रीमद्भागवत् पुराण 7/1/26)

भागवत्पुराण मे भी भक्ति की तीन प्रशाखाये बतायी गयी है– प्रथम समस्त कर्मो को ईश्वरार्पित करके निष्काम–भाव से कर्तव्य बुद्धि के द्वारा भेददृष्टि का अवलम्बन ग्रहण करके जो भक्ति की जाती है, वह सात्विक भक्ति है[16]। विषयो का ध्यान करके यश, ऐश्वर्य आदि के लिये भेदबुद्धि से की जानी वाली भक्ति राजस् भक्ति है[17]। तामस भक्ति वह है जो हिसा, दम्भ अथवा ईर्ष्या आदि के वशीभूत होकर भेदबुद्धि से की जाती हो[18]। उपर्युक्त तीन प्रकार की भक्तियो की चर्चा गुणों के आधार पर भेदवादीयो की दृष्टि से की गयी है। सगुण भक्ति के निदर्शन के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत् में 'निर्गुण ब्रह्म' की चर्चा भी की गयी है। भागवत्कार के अनुसार सर्वान्तर्यामी, ईश्वर के गुण श्रवण के द्वारा उत्पन्न, समुद्र मे समाहित गगा के जल कं समान अविच्छिन्न अहैतुक और विक्षेप रहित भक्ति, निर्गुण भक्ति है। श्रीमद्भागवद् मे भक्ति की भी विविध कोटियो का निर्धारण किया गया है, जो विभाजन उनके ध्येय के आधार पर है। इस आधार पर उत्तम, मध्यम व प्राकृत तीन प्रकार के भक्त माने गये है –

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।

मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गगाम्भसोऽबुद्यों ।।

लक्षणं भक्ति योगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृत ।।

(श्रीमद्भागवत् पुराण 3/29/11/12)

भागवत् मे ही नवधा भक्ति के स्वरूप को विस्तार दिया गया है। इसके अन्तर्गत भक्ति को स्वरूप के आधार पर स्मरण, कीर्तन, श्रवण, अर्चना, वन्दन, पादसेवन, दास्य, सख्य, और आत्मसमर्पण नौ श्रेणियो मे विभाजित किया गया है[19]। श्रीमद्भागवत् मे वर्णित भक्ति को ही परवर्ती आचार्यो ने 'विहित' और 'अविहित' इन दो विधाओ में बाटा है। शास्त्रीय भक्तियोग को विहित एव कामादिजन्य भक्ति को अविहित कहा गया है। भागवत्–प्रतिपादित भक्ति के इन विविध रूपो का सम्पूर्ण साम्य आचार्य रामानुज या किसी भी परवर्ती वेदान्ती से नही मिलता। आचार्य मधुसूदन सरस्वती एव भगवान् रामानुज कामादिजन्य 'अविहित भक्ति को प्रेम और श्रद्धामूलक न होने के कारण भक्ति मानने से इकार करते है। वस्तुत यह सत्य भी है क्योंकि भक्ति का प्राणतत्व है 'प्रेम' और जिस सम्बन्ध मे प्रेमतत्व की विवक्षा न हुई हो, उसे भक्ति मान लेना समीचीन नहीं होगा।

इस प्रकार पूर्वोक्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जाता है कि भक्ति–लता जो सहिताओ मे बीज रूप थी, ब्राह्मणो मे अकुरित होने लगी थी और उपनिषदो मे जिसने वृक्ष का रूप धारण किया था, वह पुराणों मे पुष्पित एव पल्लवित होने लगी। पौरस्त्य, पौराणिक आख्यानों मे भक्ति का सागोपाग विवेचन मिलता है। इसका परिणाम यह हुआ कि अभी तक मोक्ष साधनभूत माने जाने वाले कर्म एव ज्ञान के साथ भक्ति को भी मोक्षसाधिका माना जाने लगा। कालान्तर मे तो प्राकृत जनो के, अपि च, मनीषियो के हृदयपक्ष से जुड जाने के कारण भक्ति ही सर्वत्र व्याप्त हुई, तथा ज्ञान एव कर्म अपनी भक्तिपरकता मे मोक्ष–साधन स्वीकार किये गये। भागवत् मे तो केवल भक्ति को ही पापो की विनाशिका और परम पुरुषार्थ की [illegible]

केचित् केवल्या भक्त्या वासुदेव परायणः।

अघं धुन्वन्ति कार्त्स्येन नीहारमिव भास्करः।।

(श्रीमदभागवद् पुराण 6/1/14)

<u>रामायण एवं महाभारत में भक्ति-तत्व :-</u>

पौराणिक युग के पश्चात् रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य आते है, जिन्हे वस्तुत इतिहास–ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है। वे भारतवर्ष की तत्कालीन समन्वयी सस्कृति और बहुरगी जीवन–पद्धति के चित्रपट भी है जिनके माध्यम से हमारा सास्कृतिक चितन सुदृढ एव समृद्ध होता है। वाल्मीकि रामायण मे भक्ति का उपाख्यान सीधे–सीधे तो नहीं मिलता परन्तु आनुषगिक रूप से भक्ति के अगों का स्थान–स्थान पर परिचय मिलता है। काव्य के नायक भगवान राम के जीवन मे यज्ञ, जप, स्वध्याय और व्रत इत्यादि का पर्याप्त माहात्म्य है, जिसके माध्यम से भगवान राम मानव के चितनशील पक्ष पर प्रकाश डालते हुए मानव मूल्यो को गम्भीर अर्थवत्ता प्रदान करते है। भक्ति के आवश्यक उपादानो मे एक शरणागति का मार्मिक विवेचन विभीषण के शरणागत होने के प्रसग मे मिलता है, जहाँ भक्तवत्सल भगवान श्रीरामउद्घोष करते है कि "मै एक बार भी शरण मे आये हुए व्यक्ति को अभयदान प्रदान करता हूँ।" इस प्रकार वाल्मीकि रामायण मे अनुस्यूत भक्ति का यह अन्तवर्तीसूत्र कालान्तर मे गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' मे धवल भक्तिपट होकर पौरस्त्य मनीषा के आकाश मे फहरता है। वाल्मीकि रामायण के वीर, पुरूष, राम, तुलसी के 'मानस' मे मर्यादा–पुरूषोत्तम होकर भक्तवत्सल बन जाते है और आर्त को आश्वस्ति देते है। इस प्रकार रामायण मे भक्ति के अग–उपांगो का मनोहर चित्रण हुआ है।

'महाभारत' में भक्ति अपनी पराकाष्ठा पर दिखाई देती है जब योगश्वर 'कृष्ण' युद्ध–भूमि में अर्जुन को पूर्णभक्ति का उपदेश देते है। इस दृष्टि से 'गीता' भारतीय सस्कृति का आत्मतत्व है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण, अर्जुन को सम्पूर्ण समर्पण कर देने की बात कहते है। अर्जुन की योगिराज कृष्ण के प्रति पूर्ण तन्मयता भक्ति का चूडान्त निदर्शन है–

मन्मना भव भद्भक्तों मद्याजी मा नमस्कुरू।

मामेवैष्यसियुक्त्वैवमात्मानं मत्परायण.।।

(गीता–9/34)

भक्तो की निम्न चार कोटियॉ गीता मे बताई गयी है आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी। भ्रष्ट ऐश्वर्य की पुन प्राप्ति की इच्छा करने वाला आर्त्त, अप्राप्त ऐश्वर्य की इच्छा वाला अर्थार्थी, प्रकृति वियुक्त आत्मस्वरूप का इच्छुक अथवा ज्ञान स्वरूप की इच्छा वाला जिज्ञासु और भगवान् की प्राप्ति का इच्छुक ज्ञानी कहलाता है। अपने सम्पूर्ण कर्मो को, स्वय को सौप निश्चित हो जाने को, भगवान कृष्ण अर्जुन को प्रेरित करते है –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकम् शरण ब्रज।

अह त्वाम् सर्वपापेभ्यो मोक्षइष्यामि मा शुच ।।

गीता मे भक्ति ही ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र साधन मानी गयी है –

भक्त्या त्वनन्य शक्य अहमेव विधोऽर्जुन।

ज्ञात दष्टु चेतत्वेन प्रवेष्टु च परन्तप ।।

(गीता–11/54)

गीता के अतिरिक्त भी महाभारत मे भक्ति के प्रसग अनेक स्थलो पर मिलते है। शान्तिपर्वान्तर्गत 'नारायणीयोपाख्यान' मे भीष्म ने युधिष्ठिर को भक्ति का विशद उपदेश किया है। इसमे भीष्म ने भक्ति को निवृत्तिपरक न मानकर प्रवृत्तिपरक माना है जो युगधर्म एव निष्काम– कर्मविधायिका है।

<u>पांचरात्रा-आगमों में भक्ति :-</u>

वैष्णव मतानुयायियों के लिय पाचरात्र आगम अत्यत पवित्र एव प्रामाणिक हैं। इसके अर्थ के विवेचन मे कई व्याख्याये प्राप्त होती हैं। एक व्याख्या के अनुसार वेद, आरण्यक, सांख्य, और योग को 'महाभारत' के साथ मिला देने पर इस पुजीभूत राशि से उपजे शास्त्र की पांचरात्र संज्ञा हुई है[20]। इसके अतिरिक्त 'अहिर्बुध्न्य–संहिता' मे रात्र को

ज्ञान माना गया है। 'परमतत्त्व, 'मुक्ति', भुक्ति, योग और विषयरूप पाच प्रकार के ज्ञान का प्रतिपादन होने से इसे पांचरात्र कहा गया है। 'ईश्वरसहिता' द्वारा प्रतिपादित एक अन्य व्याख्या के अनुसार शाण्डिल्य, औपगायन, मोन्जायन, कौशिक तथा भारद्वाज नामक पाच ऋषियो को पाचरात्रियो मे इसका उपदेश देने के कारण, इसकी 'पाचरात्र' सज्ञा हुई –

पचापि पृथगेकैक दिवारात्र जगत्प्रभु.।
अध्यापयामास यतस्ततस्तन्मुनिपुगवा।।
शास्त्र सर्वजनैलोके पाचरात्रमितीर्यते।।

(ईश्वर–सहिता, 27/532/33)

इस पाचरात्र आगम की चर्चा महाभारत के 'नारायणीयोपख्यान' मे ही मिलती है। रामानुज एवं उनके अनुयायियो के लिए ये आगम वेदो के समान महत्वपूर्ण है।

पराशर–पुराण, वशिष्ठ–सहिता, सूत–सहिता, और आश्वलायन–स्मृति जैसे ग्रन्थो मे पाचरात्र आगमो की अप्रामाणिकता के तर्क मिलते है, जबकि महाभारत, भागवत् पुराण इसे प्रामाणिक सिद्ध करने के साथ ही स्वत. प्रमाण भी मानते हैं। वैष्णव सम्प्रदायो मे इसका महत्व इसी से स्थापित हो जाता है कि यामुनाचार्य ने 'आगम–प्रामाण्य' नामक एक ग्रन्थ की रचना, प्रामाणिक पाचरात्र आगमों को वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए की। पांचरात्र–आगम का सम्बन्ध उसके अनुयायी वेद की एकायन शाखा से मानते हैं। 'ईश्वर–सहिता' के अनुसार द्वापर–युग का अन्त और कलियुग के प्रारम्भ मे शाण्डिल्य ऋषि ने 'एकायन' नामक वेद को साक्षात् सकर्षण से प्राप्त करके सुमन्त, जैमिनी, भृगु, उपगायन और मोजायन नामक ऋषियो को पढाया[21]। यही एकायन वेद 'सात्वत–शास्त्र' के रूप में प्रसिद्ध है।

एकायन विद्या का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् मे भी आया है जहॉ 'नारद' वेदो से पृथक एकायन विद्या का उल्लेख करते हैं। प्रसिद्ध अद्वैतवादी 'आचार्य शकर' उक्त शब्द का अर्थ नीतिशास्त्र करते हैं[22]। 'ईश्वर–संहिता' में भी एकायन शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा

गया है कि मोक्षरूपी अयन या धाम को प्राप्त करने के लिए इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं है, इसीलिए इस शास्त्र को एकायन कहा जाता है[23]। 'जयाख्य सहिता' मे पाचरात्र–आगमो को शुक्ल यजुर्वेद की 'काण्ड' शाखा से सम्बद्ध माना गया है। इसके अतिरिक्त काश्मीर के विद्वान 'उत्पलाचार्य' ने पाचरात्रविषयिणी श्रुति का उल्लेख करते हुए पाचरात्र उपनिषद् की सत्ता सिद्ध की। इन आगमो मे भक्ति अपने अगो के साथ विशद रूपों से विवेचित हुई है। मदिरो मे ईश्वर विग्रह के प्रति पूजा–विधान का निर्वाह, इन आगमो मे वर्णित है। इनके अन्तर्गत पाच प्रकार की पूजन विधियॉ बतायी गयी है–अभिगमन अर्थात् मन, वचन और कर्म से देव प्रतिमा मे ध्यान केन्द्रित करके देवमन्दिर मे जाना, उपादान अर्थात् धूप, दीप, नैवेद्य आदि पूजा सामग्री का सचय, इज्या अर्थात् देव मन्दिर मे जाकर विधिपूर्वक पूजन करना, स्वाध्याय अर्थात् आराध्य देव के मत्र का विधिपूर्वक जाप करना तथा योग अर्थात् देवमूर्ति का ध्यान करना एव उसके स्वरूप व गुणो मे तन्मय हो जाना। ये पचविध अर्चाविधि ही 'परमसहिता' मे समय, समाचार, स्वाध्याय, द्रव्य–संग्रह, शुद्धि, त्याग, स्तुति और ध्यान के रूप मे, आठ भेदो मे बतायी गयी है। पांचरात्र आगमो मे सगुण या साकार की ही भक्ति सम्भव मानी गयी है, निराकार की नहीं। सर्वस्व समर्पण या शरणागति ही भक्त का दायित्व है, जिसके लिये वह अहभाव के विसर्जन का अभ्यास करता है। ये आगम इस शरणागति की निम्न छ कोटियो का विशद आख्यान करते है– ईश्वराभिमत गुणो का अर्जन, प्रतिकूल गुणो का निषेध, रक्षा का विश्वास, रक्षार्थ–निवेदन, अपनी तुच्छता का अनुभव या अकिचनता और आत्म–निक्षेप। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण पाचरात्र–साहित्य भक्ति के उदात्तभावो से भरा पडा है।

आगम साहित्य के एक अन्य महत्वपूर्ण अंग 'वैखानस–आगम मे भी भक्ति अपनी सम्पूर्ण उर्जा के साथ प्रस्फुटित हुई है। प्राचीन भारत मे पांचरात्र आगम की अपेक्षा वैखानस आगम ही अधिक प्रतिष्ठित था। आचार्य रामानुज के द्वारा दक्षिण भारत के मंदिरो मे पांचरात्र पद्धति का प्रचलन किये जाने के बावजूद आज भी तिरूपति के भगवान् 'वेकटेश' के मंदिर

तथा अन्य कई प्रमुख मदिरो मे आराधना–विधि के रूप मे इसी का प्रचलन है। बैखानस–आगम के अन्तर्गत जिन देव प्रतिमाओ के निर्माण का उल्लेख हुआ है, उनमे 'ब्रह्म' और 'स्कन्द' की पूजा ईसा की परवर्ती शताब्दियो मे ही अप्रचलित हो चुकी थी। अतः इनकी भी पूजा का विधान करने के कारण इस आगम की प्राचीनता सिद्ध होती है।

वैखानस–साहित्य भी भक्ति की सुमधुर रस–धारा से सर्वथा आप्लावित है। वैदिक कर्मकाण्ड को वैखानस–आगम मे पूर्ववत् मान्यता प्राप्त होने के पश्चात् भी भक्ति के अवयवभूत जप, अर्चना और ध्यान का विधान किया गया है। भगवान नारायण की उपासना से ही परम पुरूषार्थ की प्राप्ति होती है, यही वैखानस–साहित्य का मूल स्वर है।

<u>नास्तिक दर्शनों में भक्ति :-</u>

भारतवर्ष मे आस्तिक और नास्तिक क्रमश वेदानुकुल और वेदविरोधी सदर्भो मे प्रयुक्त होता है। नास्तिक दर्शनो मे जैन एव बौद्ध प्रमुखतया आते है जो महज विचार–सरणि ही नही वरन् जीवन को सचालित करने की प्रायोगिक विधियॉ भी हैं। वेदो में आस्था न रखने के बावजूद जैन और बौद्ध भक्तितत्व की उपादेयता को नकार नही सके। जैन–दर्शन मे मोक्ष 'सम्यक् दर्शन–ज्ञान–चरित्र' से ही मिल सकता है और इन त्रिरत्नो के मूल मे श्रद्धा आती है। पूर्वोल्लिखित विवरणो मे यह अनेकश· ज्ञापित हो चुका है कि श्रद्धा भक्ति का एक अनिवार्य तत्व है, जिसके अभाव मे भक्ति–तत्व का सभवन एव पल्लवन नहीं हो सकता। कालान्तर मे तीर्थकरो की मूर्तियो की स्थापना एव षोडशोपचार विधि से सम्पादित की जाने वाली उनकी पूजा से जैन–चितन पर भक्ति का प्रभाव द्योतित होता है। इसी प्रकार बौद्ध धर्म एवं दर्शन प्रारम्भ मे भले ही अनीश्वरवादी एव बुद्धिवादी रहे हो परन्तु कालान्तर में बौद्धो के हीनयान और महायान नामक उपशाखाओ के विकास के पश्चात् महायान सम्प्रदाय में भक्ति–भावना का पर्याप्त विकास हुआ। बुद्ध से सम्बन्धित वस्तुओं को लेकर 'स्तूप' एवं 'चैत्य' रचे गये तथा उनमें [illegible] की प्रतिमाओं का पूजन भी पौराणिक हिन्दू देवी–देवताओं

की पूजा के ही सदृश होने लगा। महायान सम्प्रदाय मे भी 'अवलोकितेश्वर' की भक्ति के प्रसग मे पौराणिक नवधा भक्ति का पूर्णतया विकास हो गया। बौद्ध–मत मे 'ईश्वर–प्रसाद' के स्थान पर 'बुद्ध–प्रसाद' का सिद्धान्त प्रचलित हुआ जो सुस्पष्टतया भक्ति के प्रसाद या अनुग्रह सिद्धान्त का अनुकरण था[24]।

भक्तिसूत्रों में भक्ति तत्व :-

सम्पूर्ण पौरस्त्य वाग्मय मे भक्तिसूत्र ही ऐसे ग्रन्थ है जिनका मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति है। इसके पूर्व उन सभी ग्रन्थो मे, जिनमे भक्ति गौण या मुख्य रूप से प्राप्त होती है, भक्ति–चितन इतना विशद नहीं था, जितना भक्ति सूत्रो में। हमारे साहित्य मे 'नारद–भक्ति–सूत्र' और 'शाण्डिल्य–भक्ति–सूत्र' – भक्ति के ये दो निष्पादक ग्रन्थ मिलते है जिनमे शाण्डिल्य भक्तिसूत्र नारदभक्ति सूत्र की अपेक्षा प्राचीन है क्योकि नारभक्तिसूत्र मे शाण्डिल्य का उल्लेख भक्ति के आचार्य रूप मे किया गया है। इन भक्ति सूत्रो मे भक्ति की सागोपाग विवेचना मिलती है। भक्ति के स्वरूप का प्रतिपादन नारदभक्तिसूत्र एव शाण्डिल्य भक्ति सूत्र के द्वितीय सूत्र मे हुआ है, जिसके अनुसार भक्ति का स्वरूप ईश्वर मे साधक के प्रेम की पराकाष्ठा है[25]। नारद और शाण्डिल्य दोनो ही भक्ति के साध्य व साधन दोनो रूपो को मानते है। वे भक्ति के अविहित रूप को भी भक्ति ही मानते है तथा उनके अनुसार गोपियो की भक्ति आदर्श भक्ति है।

अद्वैत वेदान्त में भक्तितत्व :-

सामान्यत· यह अति प्रचलित तथ्य है कि आचार्य शकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त दर्शन मे ज्ञान–तत्व की प्रधानता है तथा इस दुरूहता से उपजी जनमानस की परागमुखता के निवारण हेतु आचार्य रामानुज ने अपने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का प्रवर्तन किया तथा भक्ति के व्यापक आधार की विवेचना की। परन्तु यदि गम्भीरता से देखा जाय तो अद्वैतवादी आचार्यो ने भी कहीं न कहीं भक्ति के तत्व को स्थान दिया है। शास्त्र प्रमाण है

कि माण्ड्क्य–कारिका के रचयिता आचार्य गौडयाद स्वय अद्वैत वेदान्त के परम गुरू नारायण, अद्वैत–दर्शन और परम पद की वन्दना करते है, जो कि नवधा भक्ति का एक प्रधान अग है–

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्।

ज्ञेयाभिन्नेनसवुद्धस्त वन्दे द्विपदा वरम्।।

(माण्डूक्य कारिका 4/1)

एक अन्य प्रसग मे आचार्य गौडपाद द्वारा चित्तवृत्ति को ओकार मे समाहित करने की बात कहना, ध्यान ही कहा जायेगा, जिसकी भक्ति से अभिन्नता पूर्व ज्ञात है।

आचार्य शकर ने भी भक्ति के विविध सिद्धान्तो को स्वीकार किया है। 'शारीरक महाभाष्य' मे भक्ति, ध्यान प्रणिधान आदि के वाचक 'सराधन' शब्द का प्रयोग आचार्य करते है। इसके अतिरिक्त अभिगमन, उपादानादि रूप भक्ति के सिद्धान्त शकर को स्वाभाविक रूप से मान्य है। 'ब्रह्मसूत्र' मे एक स्थान पर भाष्य करते समय शकराचार्य मोक्ष को परमात्मा के अनुग्रह से उत्पन्न विज्ञान द्वारा ही सभव मान लेते है। वे भागवतादि पुराणो के समान ईश्वर प्राप्ति के साधनभूत 'ईश्वर–प्रसाद' के सिद्धान्त की भी स्वाभाविक मान्यता देते है। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर शकराचार्य ने 'ईश्वर–प्रसाद से योगियो के भूत और भविष्य ज्ञान की उत्पत्ति को उद्धत करते हुए ईश्वर के सृष्टि, स्थिति और संहार विषयक ज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन किया है[26]। आचार्य शकर ने उपनिषदो का भी सर्वाधिक प्रामाणिक भाष्य किया है। भक्ति, उपासना, पूजा, श्रद्धा इत्यादि भक्ति के अवयवो का विशद विवेचन छादोग्य एव बृहदारण्यक आदि उपनिषदों के शकर–भाष्य में मिलता है। भक्ति की कोटियों मे सेवा और दास्य–भाव की भक्ति की चर्चा भी शकराचार्य द्वारा किये गये बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में मिलती है[27]।

इसी प्रकार श्रीमद्भगवत्गीता का भाष्य करते समय आचार्य शंकर ने भक्ति को मोक्ष का कारण स्वीकार किया है और शरणागति के द्वारा मुक्तित्व का प्रतिपादन किया है। गीता–भाष्य मे अनेक स्थलो पर भक्ति एव उसके साधन विस्तार से कहे गये है जो पौराणिक आख्यानो के समानान्तर है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण पौरस्त्य वाग्मय 'अह' भाव के विसर्जन का मूलमत्र लेकर चला है जिसमें शरणागति तथा सर्वागीण समर्पण मे प्रमुखतम् भूमिका का निर्वाह किया है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि भक्ति मानव–जीवन की सहज प्रवृत्ति व विश्वास का फल है, जिसका प्रारम्भिक दर्शन हमे वैदिक वागमय मे होता है। भक्ति का यह बीजरूप का चितन पौराणिक काल मे विकास कर अपनी प्रौढता को प्राप्त करता है एव भक्ति सूत्रो मे हमारे चितन का सर्वस्व हो उठता है। भक्ति के अस्तित्व को सगुण साकार ईश्वर की उपासना का प्रतिपादन करने वाले पाचरात्र और वैखानस आगमो ने ही नहीं अपितु विशुद्ध ज्ञान–मार्ग का प्रतिपादन करने वाले आचार्यो ने भी स्वीकार किया है। तात्पर्य यह कि आचार्य रामानुज के पूर्व भक्ति आन्दोलन अपना विकास पा चुका था। कमी बस इतनी ही थी कि यह एक निकाय या सस्थान के रूप मे सुसम्बद्ध नही था। अतएव आचार्य रामानुज ने इसे दार्शनिक स्वरूप प्रदान करके सुव्यवस्थित मोक्ष–साधन के रूप मे प्रतिष्ठापित किया जिससे प्राकृत जन भी अपने मुमुक्षुत्व का बोध कर पाया। रामानुज द्वारा किये गये भक्ति के विवेचन का आस्वाद हम शोध–प्रबन्ध के आगामी अध्यायों में करेगे।

संदर्भ एवं टिप्पणीयाँ

1 श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम्।

अर्चन वन्दनदास्यम् सख्यमात्मनिवेदनम्।।

इति पुसार्पिता विष्णोर्भक्तिश्च नवलक्षणा।।

(श्री भागवद् पुराण – 7/5/23/24)

2 प्र विष्णवे शूष्मेतु मन्म

गिरिक्षित उरूगायाय वृष्णो।

य इद दीर्घ प्रयत सधस्थ–

मेकोविममे त्रिभिरित्पदेभि ।।

(ऋग्वेद – 1/154/3झ

3 अग्नि सुदीत्ति सदृशं गृणन्तों नमत्यामस्त्वे य जातवेद ।

(ऋग्वेद – 3/16/4)

4 महा आदित्यो नमसोपसद्यो यातयज्जनो गृणते सुशेव ।

(वही – 1/26/13)

5. अरंदासीन महिळसे कराण्यह देवास भूर्णयेऽनागा ।

अचेतयदाचितो देवो अर्यो गृत्सराये कवित्तरो जुनाति।।

(वही– 7/86/9)

6 मूषो न शिश्ना व्यदत्ति

माध्या स्तोतारं ते शतक्रतो।

सकृत्सु नो मद्यवन्निन्द्र

मृकाबाधा पितेव नोभव।।

(वही– 10/33/7)

7 सनायुवो नमसा नव्यो अर्के–

वर्सूयवो मतयो दस्म दद्रु ।

पति न पत्नी रूशती रूशन्तं

स्पृशन्तित्वा शवसावन्मणीषा ।।

(वही–1/62/11)

8. आत्मानामन्तत उपसृत्य स्तुवित काम ध्यायन् अप्रमत्तोऽभ्यासो

ह यदस्मै स काम समृद्ध्येत यत्काम स्तुवीत इति

यत्काम स्तुवीत इति।

(आर्षेय ब्राह्मण–1/3/13)

9. एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यमम् मातरिश्वानमाहू ।

(ऋग्वेद–1/164/43)

10 यो ब्रह्माणम् विदधाति पूर्व

यो वेदॉश्च प्रहिणोतितस्मै।

तह देवामात्बुद्धिप्रकाश

मुमुक्षुर्वैशरणमहं प्रपद्ये।।

(श्वेताश्वरतरोयनिषद्–6/18)

11. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य

न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवेष वृणुते तेन लभ्य–

स्तस्येष आत्मा विवृणुते तनुस्वाम्।।

(कठोपनिषद्– 1/2)

12 अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम्।
मकारश्च पुन प्राज्ञ नामात्रे विद्यते गति ।।

(माण्ड्क्य–कारिका–1/23)

13 ओमित्येतद्क्षरमुद्गीथमुपासीत्।

(छान्दोग्योपनिषद्–1/1/1)

14 यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषद्ा तदेव वीर्यवत्तर भवति।

(वही–1/1/10)

15 सत्येन लभस्तपसा हि एष आत्मा
सम्यज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्त शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयो क्षीणदोषा ।।

(मुण्डकोपनिषद्–3/15)

16 कर्मनिर्वाहमुदृिश्य परास्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृयग्भाव स सात्विक ।।

(श्रीमद्भागवद् पुराण 3/29/10)

17. विषयानिभिसधाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावचयेद्यो मा पृथग्भाव स राजस ।।

(वही–3/19/9)

18 अभिसद्याय यो हिंसां दम्भ मात्सर्यमेववा।
सरम्भी भिन्नहम्भावः मयि कुर्यात्स तामसः।।

(वही– 3/29/8)

19 श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम्।

अर्चनम् वन्दनम् दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्।।

इति पुसार्पिता विष्णो भक्तिश्चेनवलक्षणा।

क्रियते भगवत्यद्धातन्मन्येऽधीतमुत्तमम्।।

(वही– 7/5/23/24)

20 इद महोपनिषद चतुर्वेदसमन्वितम्।

साख्य योग कृतान्तेन पचारात्रानुशब्दितम्।।

(महाभारत–शान्तिपर्व–348/81)

21 द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च।

साक्षात्सकर्षणाल्लब्धवा वेदमेकायनाभिधम्।।

सुमन्तं जैमिनि चैव भृगुं चैवोपगायनम्।

मोञ्जायन चत वेद सम्यग्ध्यापयत्पुरा।।

(ईश्वर सहिता–1/40/41)

22 वाकोवाक्य तर्कशास्त्रम् एकायनम् नीतिशास्त्रम्।

(शाकरभाष्य–7/1/2)

23 एष एकायनो वेद· उपदिष्टोमयाद्विजा।

मोक्षापनाम वै पन्था एतदन्यो विद्यते।।

तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिण ।।

(ईश्वरसहिता–27/534/535)

24\. मञ्जुघोषं नमस्यामि यत्प्रसादान्मति· शुभे।

कल्याणमित्रं वन्देऽहं यत्प्रसादाच्च वर्धते।।

(बोधिचर्यावतार–10/58)

जातिस्मरत्व प्रव्रज्यामह च प्राप्नुया सदा।

यावत्प्रमुदिताभूमि मजुघोष परिग्रहात्।।

(वही–10/51)

25 सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतास्वरूपा च। (नारदभक्तिसूत्र)

सा परानुरक्तिरीश्वरे (शाडिल्य भक्ति–सूत्र)

26 यत्प्रसाद्धि योगिनामप्यतीतानागतविषयम् प्रत्यक्ष

ज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविद किम् वक्तव्य तस्य

नित्यसिद्धस्येश्वरस्य सृष्टि–स्थिति–सहृतिविषय

नित्यज्ञान भवतीति।

(ब्रह्मसूत्र–शाकरभाष्य–1/1/5)

27 सोऽहं त्वया ब्रह्मभाव आपादित सन् भगवते तुभ्य

विदेहान् देशान ममराज्य समस्त ददामि, मा च सह

विदेहैर्दास्याय दासकर्मणे–ददामिति च शब्दात सम्बध्यते।

(वृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य–4/4/23)

तृतीय-अध्याय

'ज्ञान, कर्म व भक्ति की मोक्षसाधनता'

१- कर्मयोग

२- कर्मयोग की आवश्यकता

३- ज्ञान की भक्तिपरकता

भारतीय चितन मे तत्वमीमासा एव ज्ञान मीमासा दोनो ही एक दूसरे में घुले–मिले रहे हैं। तत्व का चितन पौरस्त्य मनीषा का मूल विषय रहा है। जीवन जगत् व परमसत्ता के बारे मे जानने की मानव के मन मे बलवती इच्छा रही है। जागतिक समस्याओ से जूझता हुआ प्राणी मुक्ति का मार्ग खोजता फिरता है। विभिन्न दर्शनो का प्रणयन इन्ही समस्याओं की बौद्धिक मीमासा एव इनके समाधान की खोज मे हुआ है। दु खत्रय से विमुक्ति हेतु मनीषियो ने तीन प्रकार के मार्गो का विवेचन किया है। कर्म, ज्ञान और भक्ति ये तीनो मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप मे भिन्न–भिन्न चितको द्वारा बताये गये है। इन तीन वर्गो मे से किसी भी एक पक्ष के पोषक मनीषी प्राय स्वय स्वीकृत मार्ग को प्रधान एव उससे भिन्न मार्गो को गौण दिखाने के प्रयास मे आज भी व्यस्त है।

आचार्य शकर के चितन के अनुसार मोक्ष प्राप्ति मे एक मात्र ज्ञान ही सहायक है– आत्म एव अनात्म के बीच पार्थक्य का ज्ञान। वे स्वीकार भी करते है–

'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति',

किन्तु एक मात्र मोक्ष की ज्ञान–साधनता पर ही बल देने के कारण शकर न केवल कठिन वरन्प्राकृत जनो से परे भी हो गये। दूसरी ओर 'कुमारिल भट्ट' एव प्रभाकर जैसे मनीषियो ने ज्ञान और कर्म के समुच्चय को मुक्ति हेतु आवश्यक बतलाया तथा कर्मकाण्ड की रक्षा की। अभी भी सामान्य जन–मानस का मन किसी समर्थ सत्ता से आश्वासन पाने को छटपटा रहा था। इस रिक्तता की पूर्ति की भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठापना करने वाले भगवान रामानुज ने। इन्होने अब तक दार्शनिक क्षेत्र मे व्याप्त एकागिता का परिमार्जन करते हुए भक्ति को प्रमुख माना और ज्ञान एवं कर्म को भक्ति का सहकारी बताया। उनके अनुसार 'परम तत्व' का सानिध्य केवल शास्त्र– विहित कर्म अथवा केवल शास्त्रीय ज्ञान से नहीं हो सकता अपितु कर्म और ज्ञान जब भक्ति के सहकारी बनते है तो अन्तिम पुरुषार्थभूत मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कर्मयोग :-

कर्मयोग को भारतीय परम्परा मे पर्याप्त महत्ता दी गयी है। सम्पूर्ण गीता का प्रवचन कर्म को केन्द्र बनाकर ही हुआ है। रामानुज के अनुसार कर्मयोग सुख–साध्य एव प्रमादरहित है। अत विषय–व्याकुल बुद्धि वाले लौकिक पुरुषों द्वारा कर्मयोग का ही साधन नहीं किया जाना चाहिये।[1] परतु केवल कर्मयोग ही मोक्ष–प्राप्ति का साधन नही हो सकता क्योंकि श्रुतियॉ कर्मयोग का विधान स्वतन्त्र रूप मे न करके ज्ञान के अग रूप मे करती हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है–

'तमेव विदित्वाऽवाऽतिमृत्युमेति नान्य पन्था अयनाय विद्यते'

प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार कर्मयोग,ज्ञानयोग, का साधक बनता है? ब्रह्मसाक्षात्कार रूप ज्ञान तभी उत्पन्न हो सकता है जब सत्व गुण की अभिवृद्धि हो। क्योकि रजोगुण और तमोगुण की अभिवृद्धि मे मनुष्य वासनाओ एव विकारो से आवृत होता है और सत्त्व गुण की अभिवृद्धि नही हो सकती। अत सत्वगुण के उद्रेक मे होने वाला ब्रह्म साक्षात्कार सर्वथा असम्भव है। जब मनुष्य पुण्य–पाप रूपी सांसारिक कर्मो मे फॅसता है या विषयवासनाओ मे लिप्त होता है तो रजोगुण और तमोगुण का पूरा प्रभाव उस पर होता है और यह स्थिति बह्म साक्षात्कार रूप ज्ञान के लिए सर्वथा विपरीत है। शास्त्र इन्ही कर्मसंस्कारो के विनाश से निर्मल हुए चित्त मे एकाग्रता, तत्पश्चात आत्मज्ञान का आविर्भाव दिखाते हैं। इन कर्मसस्कारो का विनाश निष्काम कर्मो से होता है। तात्पर्य यह कि कर्मो का उपयोग साधक की चित्त शुद्धि के लिए होता है जिससे रज एव तम गुणों का समापन एवं सत्त्व गुण की वृद्धि होती है।

अब पुन. शका होती है कि आचार्य रामानुज ने गीताभाष्य मे 'निराशीर्यतचित्तात्मा'[2] इस श्लोक के व्याख्यान मे ज्ञान–निष्ठा के व्यवधान से रहित केवल कर्मयोग के द्वारा आत्म साक्षात्कार का प्रतिपादन किया है। यही नहीं, गीता भाष्य में अन्यत्र भी कर्मयोग से निरपेक्षरूपेण आत्मावलोकन की बात हुयी है। एक अन्य स्थल पर रामानुज ने मोक्ष प्राप्ति के

आकाक्षी साधक द्वारा ब्रह्मात्मकरूपेण क्रियमाण कर्मो की ज्ञानाकारिता और उसकी आत्मसाक्षात्कार मे साक्षात्साधनता भी स्वीकार की है।[3] इस प्रकार 'सन्यास कर्मयोगश्च' इत्यादि श्लोकों के भाष्य मे भी कर्मयोग की आत्मसाक्षात्कार मे निरपेक्ष–साधनता कही गयी है[4]। रामानुज ने कर्मयोग के द्वारा आत्मसाक्षात्कार की ही बात नहीं कही है वरन् ज्ञानयोग की अपेक्षा उसकी शीघ्र फल प्रदता का उल्लेख भी किया है।[5] इसी प्रकार 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्' इस श्लोक के भष्य मे भी आचार्य ने ज्ञाननिष्ठा प्राप्त करने के लिए निष्काम कर्म–योग की श्रेष्ठता स्वीकार की है। गीता मे भगवान् श्री कृष्ण ने भी निष्काम कर्म–योग को मोक्ष–प्राप्ति में अन्यतम् माना है।

<u>कर्मयोग की आवश्यकता :-</u>

आचार्य रामानुज जिस समय अवतरित हुए थे, उस समय ज्ञान मार्ग की दुरूहता से जनमानस न केवल क्लान्त था वरन् सामाजिक दायित्वो से, ज्ञान साधना की आड में, पराङ्गुखता सामाजिक व्यवस्था को छिन्न–भिन्न कर रही थी। सम्पूर्ण जगत् वीतरागता के प्रदर्शन मे इतना लिप्त हो चुका था कि सम्बन्ध असहज होने लगे थे। इसीलिए आचार्य रामानुज मानते है कि कर्मयोग का अनुष्ठान, ज्ञानयोग की अपेक्षा सुकर, प्रमादरहित और शीघ्र फलप्रद होने के कारण ही नहीं अपेक्षित है वरन् ज्ञान निष्ठा वाले साधको के लिए अपनी शरीर यात्रा के निर्वाह हेतु भी, कर्म करना आवश्यक है। किन्तु वे इस जीवन निर्वाह के लिए मूल्यो का मानक रखते हैं। उनके अनुसार जिस द्रव्यराशि के द्वारा हमारा जीवन निर्वाह होता हो उसे न्यायपूर्वक उपार्जित एव यज्ञादि, आध्यात्मिक कृत्यो का अवशिष्ट होना चाहिये। वे मानते है कि यज्ञादि शास्त्रीय कर्मों के सम्पादनार्थ किया गया धनार्जन जिस कर्म से होता है उसके अतिरिक्त किसी अन्य आसक्ति से किया गया कर्म बंधन का हेतु होता है[6]। रामानुज गीता के अनुरूप ही स्वीकार करते हैं कि कर्म फल प्राप्ति की इच्छा से रहित होना चाहिये और यह तभी सम्भव है जब आसक्ति से रहित व्यक्ति में आत्म कर्तृत्व के अहंभाव का समूल

विनाश हो जाय। ईश्वर को अर्पण बुद्धि से किया जाने वाला कर्म ज्ञान से सहकृत होकर आत्मसाक्षात्कार का हेतु बनता है यह निर्विवाद है।

प्रश्न उठता है कि निष्कामकर्मियो की आवश्यकता क्यो पडती है ? रामानुज स्पष्ट करते है कि इस संसार मे अन्य प्राणियो के हित की रक्षा के लिए, उनके सरक्षण के लिये शास्त्रोक्त निष्काम–कर्म का पालन आवश्यक है। गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण स्वय कहते है कि श्रेष्ठ पुरूष जिस–जिस प्रकार का आचरण करते है, लोक उसी का अनुसरण करता है –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तन्तदेवेतरो जन.।

स यत्प्रमाण कुरूते लोकस्तदनुवर्तते।।

(गीता–3/2)

इसीलिए, शास्त्र प्रमाण है, ज्ञान योग के अधिकारियो में अग्रणी होने के बाद भी जनकादि मनीषियो ने कर्मयोग का ही अनुष्ठान किया है –

कर्मणैव हि सिद्धिमास्थिता जनकादय ।

(वही–3/2)

कर्मयोग की उपादेयता केवल ज्ञानयोग का सहकारी होकर मोक्ष–प्राप्ति का हेतु बनने मे ही नही है या जीवन–व्यापार के संचालनार्थ मौलिक आवश्यकता होने मे ही नहीं है वरन् मुमुक्षु के द्वारा उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति का सामर्थ्य अर्जित करने भी है। कर्म साक्षात् नहीं अपितु ज्ञान द्वारा भक्ति रूप को प्राप्त करता है। कर्म की भक्ति के प्रति साधनता का प्रतिपादन स्वय महर्षि व्यास ने किया है –

इयाज सोऽपि सुबहून यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रय·।

ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया।।

अर्थात् शास्त्र–ज्ञान को प्राप्त हुआ वह जनक

ब्रह्म विद्या (भक्ति) को प्राप्त करने का उददे्श्य करके उसके विरोधी प्राचीन अनन्त कर्मों को अविद्या अर्थात् शास्त्रविहित निष्काम कर्म से नष्ट करने के लिये बहुत यज्ञों को करता रहा। यही नहीं ईशावास्योपनिषद् में उल्लिखित 'अविद्या' शब्द का भी अर्थ रामानुज ने वर्णाश्रमाचारादि शास्त्र–सम्मत कर्म माना है।

विभिन्न उपनिषदों में ज्ञान को मोक्ष का एक मात्र साधन स्वीकार किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में वैदिक ऋषि कहता है–

'तमेवं विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पंथा अयनाय विद्यते',

परन्तु रामानुज केवल ज्ञानमात्र को ईश्वर–स्वरूप के ज्ञान का या जीवात्मा की मुक्ति का साधन नहीं मानते । वे प्रमाण देते हैं कि यदि शास्त्रजन्म केवल ज्ञान (वाक्यार्थ ज्ञान) के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता तो वाक्यार्थ ज्ञान वाले साधक को दुःख न भोगना पड़ता। चूँकि वाक्यार्थ ज्ञान वाले साधकों को दुःख होता है, अतः स्पष्ट है कि श्रुति–स्मृतियों में मोक्ष साधनत्वेन' विहित ज्ञान केवल वाक्यार्थ ज्ञान से भिन्न है। साथ ही साधक श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा सम्पूर्ण सांसारिक वासनाओं को तथा भेद–बुद्धि को नष्ट कर ले, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, जिसके पश्चात् 'तत्वमसि' इत्यादि वाक्यों से उसे आत्मसाक्षात्कार रूप ज्ञान की प्राप्ति होती है जो मोक्ष का साधक होता है। क्योंकि ऐसा होने पर तो प्रथम वाक्यार्थ ज्ञान के बाद ही मननादि, फिर उनसे भेद–वासना का निराकरण और उसके बाद भी वाक्यार्थ ज्ञान ही उत्पन्न होगा। और यहाँ अन्योन्याश्रय दोष सिद्ध है। अतः कहा जा सकता है कि ज्ञान–मात्र से मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता जब तक कि वह कर्मसहकृत न हो तथा अन्ततः ये दोनों ही साधन एक तीसरे अर्थात भक्ति के अनुषंगी न हों।

ज्ञान की भक्ति परकता :-

रामानुज के अनुसार जिस प्रकार लोक मे सर्प–भय की निवृति' यह सर्प नही रज्जु है' इस वाक्य के केवल अर्थज्ञान मात्र से नहीं होती अपितु किसी आप्त पुरूष के द्वारा बताये जाने पर जब सॉप के भय से डरा हुआ व्यक्ति पुन वापस लौटता है तो रस्सी के देखने पर जब उसे विश्वास हो जाता है कि सचमुच यह सर्प नही रस्सी है, तभी उसके सर्प भय की निवृति होती है[7]। इसका अभिप्राय यह है कि सर्पभय की निवृत्ति मे वाक्यार्थ ज्ञान मात्र हेतु नही है वरन् उसके बाद व्यक्ति द्वारा रस्सी का प्रत्यक्ष सर्पभय का निवर्तक होता है। ठीक उसी प्रकार अविद्या की निवृति और तद्नन्तर होने वाली ब्रह्म की प्राप्ति भी शास्त्र–जन्य केवल वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से नही होती अपितु वाक्यार्थ ज्ञान के बाद जब वह सतत् अभ्यास से प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि को प्राप्त कर लेता है, तभी ब्रह्मप्राप्ति सभव है। ज्ञान की यही प्रत्यक्षाकाराकारिता हो रामानुज की भक्ति का प्राण है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शास्त्रजन्य केवल ज्ञान जब भक्तिरूपा पत्र होता है तभी वह ईश्वर प्राप्ति का साधन बनता है। ज्ञान के भक्ति रूप होने के लिए केवल उसका प्रत्यक्षाकाराकारित्व ही पर्याप्त नहीं है, अपितु ज्ञान का प्रीतिपरक होना भी आवश्यक है। आचार्य सुदर्शन सूरि ने प्रीति का तात्पर्य स्वामी के प्रति भृत्य के अनुराग से माना है।[8] वे मानते है कि प्रत्येक प्रकार की प्रीति भक्ति नही है और प्रत्येक प्रकार का ज्ञान प्रीति नहीं है। अतएव सिद्ध है कि ज्ञान प्रीतियुक्त होने से ही भक्ति रूप हो सकता है।

भक्ति आचार्य रामानुज का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। वेदार्थसग्रह में उन्होने भक्ति को अत्यन्तप्रिय स्वयं प्रयोजनभूत और स्व से इतर समस्त पदार्थो से विरक्ति उत्पन्न करने वाला ज्ञान विशेष कहा है। यह वस्तुत· प्रीति की अतिशयता उत्पन्न ज्ञान है। अर्थात ऐसा ज्ञान जो साधक को अत्यन्त प्रिय हो और जिसके अतिरिक्त साधक के सामने न तो कोई दूसरा प्रयोजन हो और न उसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से लगाव, भक्ति की कोटि मे आता है।

उपर्युक्त ज्ञान एव कर्म के विविध सदर्भों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि ज्ञान या कर्म मोक्ष के साधन तो अवश्य है पर स्वतन्त्र रूप मे नहीं वरन् भक्ति के सहकारी होकर। भक्ति की पूर्वावस्था के निर्माण के लिए कर्म और ज्ञान इन दोनो की सत्ता मानी गयी है। आचार्य शकर भी कहते है –

'स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्।

साधनम् प्रभवेत पुसा वैराग्यादि चतुष्टयम्।।'

वैष्णव भक्ति के परम गायक यामुनाचार्य ने भी भक्ति–योग की सिद्धि में कर्म एव ज्ञान की महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की है। उनके अनुसार कर्मयोग और ज्ञान योग की साधना से जिस साधक का अन्त.करण शुद्ध हो गया हो वही ऐकान्तिक और आत्यन्तिक भक्तियोग का अधिकारी है। एक मात्र भगवान् के विषय मे प्रवाहित होने के कारण भक्तियोग को एकान्तिक और सत्त प्रवाहित होने से आत्यन्तिक कहा जाता है। वस्तुत भक्तियोग की सिद्धि मे असमर्थ साधको के लिए यह आवश्यक है कि वे परिशुद्ध जीवात्म स्वरूप का साक्षात्कार करे।

ज्ञान योग और कर्मयोग की साधना इसी आत्मसाक्षात्कार के पृथक–पृथक साधन है दुर्वृतियो से जकडे हुए मनुष्य के बाह्य सस्कार मे कर्मयोग की सार्थकता स्पष्ट होती है जब कि साधक के अन्तर्मल के प्रक्षालनार्थ ज्ञान योग का विधान किया जाता है। इसमे कर्मयोग, बहिरग साधन है जब कि ज्ञानयोग अंतरंग। कर्मयोग सुकर है एव ज्ञानयोग दुष्कर। ज्ञानयोग कर्मयोग से ऊपर का चरण है, अतएव ज्ञान के द्वारा आत्मलाभ करने मे अक्षम साधको को कर्मयोग का अनुष्ठान करना चाहिये। ऐसा नहीं कि ज्ञान योगियों के लिए कर्मयोग की आवश्यकता न हो। गीता में भगवान् श्री कृष्ण स्वय कहते हैं–

'लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि'।

(गीता–3/20)

रामानुज–वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्य 'वेदान्त देशिक' ने ज्ञान और कर्मयोग के द्वारा प्राप्त आत्मसाक्षात्कार को साधक के कामना भेद से कहीं तो कैवल्य का साधक माना है और कहीं भक्ति का।

उपर्युक्त विवेचना से अनायास ही यह शका उठती है कि ब्रह्म प्राप्ति के ये तीनो साधन पृथक–पृथक सहायक होते है अथवा मिलकर ब्रह्मज्ञान मे कर्मयोग साक्षात् साधन नही है, ऐसा बताया जा चुका है। इसके साथ ही शास्त्रजन्य केवल वाक्यार्थ ज्ञान भी आडम्बर मात्र ही है, आत्म–स्वरूप के बोध मे शक्य नहीं। इस प्रकार कर्म और ज्ञान परम तत्व के ज्ञान मे भक्ति सहकृत होकर सार्थकता को प्राप्त करते है अन्यथा नहीं। परन्तु इसका तात्पर्य यह भी नही है कि भक्ति अकेली 'उस' महल्लक्ष्य की साधना मे समर्थ है। रामानुज भक्ति को परम–पुरूषार्थ प्राप्ति का साधन तो मानते हैं किन्तु इसके लिए भक्ति का कर्म व ज्ञान से सहकृत होना आवश्यक है। अपनी 'गीताभाष्य भूमिका' मे आचार्य रामानुज कहते है –

'ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्ति योगम्'।

वस्तुत· रामानुज भारतीय तत्वमीमांसा के इस जटिल प्रश्न का समाधान एक अनूठे किन्तु शास्त्र–सम्मत समन्वयकारी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते है। उनके अनुसार वह शास्त्र–सम्मत कर्म जो आत्म–कर्तृत्व तथा फल प्राप्ति की अभीप्सा से रहित हो, ज्ञान–प्राप्ति की अनुकूल पीठिका तैयार करता है। यह शास्त्र–सम्मत है कि ज्ञान की प्राप्ति बिना किसी माध्यम के सीधे हो सकती है किन्तु अत्यन्त कठिन होने के कारण सामान्य जन इस प्रक्रिया का अनुसरण नहीं कर सकते । पुनश्च, ज्ञान–मार्ग से प्राप्त मोक्ष वैयक्तिक तो हो सकता है परन्तु इसमें बहुसंख्य वचित रहेगे और करूणा अपनी सार्थकता प्राप्त नहीं कर सकेगी। अत. ऐसे सामान्यजनों को निष्काम कर्मयोग का पालन और परिणामस्वरूप चित्तशुद्धि परमावश्यक है। यह ज्ञान केवल वाक्यार्थ ज्ञान मात्र नहीं है अपितु ज्ञान विशेष है क्योंकि कठोपनिषद की निम्नलिखित श्रुति में केवल ज्ञान मात्र की मोक्ष–साधनता का निषेध किया गया है –

नायमात्मा प्रवचनेनलभ्य

न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य

तस्यैष आत्मा विवृणुतेतनू स्वाम्।।

(कठोपनिषाद्–2/23)

इस प्रकार भक्ति को ज्ञान विशेष मानकर और भक्तियोग के साधक के लिए भी शरीरधारणपर्यन्त शास्त्रविहित निष्काम कर्मों की अनिवार्यता का प्रतिपादन करके रामानुज ने कर्म,ज्ञान और भक्ति के मध्य ऐसा सुन्दर समन्जस्य स्थापित किया, जिससे श्रुतिस्मृतियों मे कही गयी तीनों विधाओं के मध्य भ्रान्त धारणाओ पर आधारित विरोध का परिहार हो सके।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1 विषय व्याकुलबुद्धियुक्ताना कर्मयोगाधिकार·।

(गीताभाष्य– 3/3)

2 निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्त सर्वपरिग्रह ।

शरीर केवल कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।।

(गीता–4/21)

3. मुमुक्षुणा क्रियमाणं कर्म परब्रह्मात्मक में वेत्यनुसन्धानयुक्ततया

ज्ञानाकार साक्षादात्मावलोकनसाधनम् न ज्ञाननिष्ठा व्यवधानेन।

(गीताभाष्य–4/24)

4 सन्यास कर्मयोगश्च नि श्रेयसकरावुभौ।

तयोऽस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।

एकमप्यास्थित सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।

यत्साख्यै प्राप्यते स्थान तद्योगैरपि गम्यते।।

(गीता – 5/2, 4)

5 कर्मयोगयुक्त स्वयमेव मुनिरात्ममननशील सुखेन कर्मयोग

साधयित्वा चिरेणेवाल्पकालेनैव ब्रह्मधिगच्छत्यात्मान प्राप्नोति।

(गीताभाष्य–5/6)

6 यज्ञादि शास्त्रीयकर्मशेषु भूताद् द्रव्यार्जनादे·

कर्मणोऽन्यतन्त्राऽऽत्मीय प्रयोजनशेषभूते कर्मण

क्रियमाणे यमलोक कर्मबन्धनो भवति।

(वही—3/9)

7 श्रीभाष्य – 1/1/1

8 प्रीतिविशेषशब्देन स्वामिनि भृत्यस्य अनुरागों विवक्षित ।

(वेरार्थसग्रहत्तात्पर्थदीपिका, (पृष्ठ सख्या –344)

9. उभयपरिकर्मित स्वान्तन्स्यैकान्तिकात्यन्तिक भक्तियोग लभ्य·।

(सिद्धित्रय, पृष्ठ स०—14)

10 न्याय—सिद्धाजन, पृष्ठ—308।

चतुर्थ-अध्याय

'भक्ति और प्रपत्ति'

१- भक्ति क्या है?

२- भक्ति, ध्यान और उपासना

३- उपासना का स्वरूप तथा भक्ति व ज्ञान से सम्बन्ध

४- भक्ति और सेवा

५- भक्ति के प्रकार

६- भक्ति के साधन

७- प्रपत्ति का स्वरूप

८- मोक्ष-साधिका प्रपत्ति एवं भक्ति से उसका स्वातंत्र्य

९- प्रपत्ति व इसके विविध रूप

१०- प्रपत्ति के अंग

११- प्रपत्ति-साधन में ज्ञान व कर्म की भूमिका

१२- भक्ति व प्रपत्ति में अंतर

अभी तक पिछले अध्यायो मे हमने आचार्य रामानुज के जीवन, दक्षिण भारत मे आलवार–आन्दोलन, ज्ञान एव कर्म की मोक्षसाधनता आदि विविध विषयो की विशद विवेचना की है। प्रस्तुत अध्याय मे शोध–प्रबन्ध के विवेच्य विषय 'भक्ति' की हम विस्तार से विवेचना करेगे। सम्पूर्ण भारतीय वागमय में भक्ति शब्द के जितना व्यापक शब्द शायद कोई दूसरा न हो। वैदिक–काल से लेकर अद्यतन नवीनतम् सदर्भो तक भक्ति शब्द न केवल पूजा–पाठ आदि प्रारम्भिक कृतियो से लेकर उच्चतम कोटि के आत्म–दर्शन तक व्यवहृित होता रहा है वरन् लौकिक जीवन मे भी किसी सत्ता के प्रति विहित श्रद्धातिरेक के लिए भी यह शब्द प्राय आया है। भक्ति विविध रूपो मे भारतीय चितन मे हमारे समक्ष दिखती है–कभी मोक्ष दायिनी स्वय–साध्यता बनकर तो कभी जीवन को सुकर बनाने हेतु साधन के रूप मे प्रयुक्त होकर। परन्तु यह निर्विवाद है कि इस शब्द के अत्यधिक प्रयोग ने इसके वास्तविक अभिप्राय को न केवल धूमिल किया है वरन् इसका वाच्यार्थ भी प्राय विवादास्पद सा बन गया है।

आचार्य रामानुज ने अनेकार्थकता एवं विवादात्मकता की इसी धुन्ध को छॉटने के लिए भक्ति शब्द का विशद एव सूक्ष्म विवेचन किया है। उनके मत के अनुसार प्रत्यक्षता की कोटि को प्राप्त होने वाली ध्रुवानुस्मृति ही 'भक्ति' का अर्थ है। अर्थात् जिसका स्वरूप तैलद्यारा के समान नैरन्तर्ययुक्त हो वही स्मृति ध्रुवानुस्मृति है। 'वेदान्त देशिक' ने इसे ही असमान बुद्धि के व्यवधान से रहित स्मृति–प्रवाहत्व कहा है[1]। अब यहॉ प्रश्न यह उठता है कि यह ध्रुवानुस्मृति प्रत्यक्षता की स्थिति को कब और कैसे प्राप्त होती है? स्वयं रामानुज के अनुसार भावना के प्रकर्ष से स्मृति की दर्शन–समानाकारता होती है। यहॉ भावना का अर्थ बार–बार स्मरण से है जिसे वेदान्त देशिक अनुभवजन्य संस्कार रूपा चिंता कहते है। तात्पर्य यह कि जब कोई व्यक्ति किसी चीज के बारे में निरन्तर सोचने लगता है तो उसको वही सब जगह दिखाई भी पड़ने लगता है। इस निरन्तर स्मरण में प्रेम, भय, ममता द्वेष आदि कई कारण हो सकते हैं। वाल्मीकि–रामायण मे मारीच के द्वारा राम के भूयो–भूय चिंतन से उसके समक्ष मानव राम स्वयं उपस्थित हो जाते है[2]। आचार्य रामानुज भक्ति के लिए इसी प्रकार के

निरन्तर स्मरण को, जो दर्शन के समान हो सके, आवश्यक मानते है एव वेदों तथा स्मृतियो मे ऐसी ही 'ध्रुवानुस्मृति' का मुक्ति के साधन के रूप मे प्रतिपादन दिखाते हैं। स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक प्रकार की स्मृति ध्रुवानुस्मृति नही कही जा सकती वरन् स्मरण की यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें नैरन्तर्य एव स्थिरता सन्निहित है। आचार्य रामानुज स्मृति को यथार्थ जबकि नैयायिक उसे यथार्थ एव अयथार्थ दोनो, मानते है। रामानुज ने गीता–भाष्य मे स्मृति को परिभाषित करते हुए लिखा है–

स्मृर्तिनाम पूर्वानुभूत विषयमनुभवसस्कारमात्रजम् ज्ञानम्।

(गीताभाष्य – 15/15)

अर्थात पूर्वानुभूत विषय के अनुभवजन्य संस्कार से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही स्मृति है। चूँकि रामानुज के अनुसार ज्ञान सर्वदा सत्य–विषयक होता है अतएव अनुभवजन्य सस्कार से उत्पन्न होने वाला स्मृतिरूप ज्ञान यथार्थ ज्ञान है।

भक्ति, ध्यान और उपासना :-

पौरस्त्य चितन मे ध्यान एव उपासना आदि शब्द भक्ति के अगो के रूप मे प्रयुक्त हुए है। योगियों के लिए ध्यान एव प्राकृत जनो के लिए उपासना की विधियॉ सामान्य जनमानस में रूढ होकर रह गयी है। रामानुज इस ध्यान का ध्रुवानुस्मृति के साथ पर्यायत्व स्वीकार करते है; किन्तु वे यह भी मानते हैं कि सभी प्रकार का ध्यान ध्रुवानुस्मृति का पर्याय नहीं है अर्थात् तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मृति–परम्परा को ही रामानुज ध्यान की सज्ञा देते है[3]। अष्टांगयोग की चर्चा करते समय आचार्य पतंजलि ने ध्यान की जो परिभाषा की है, निश्चित रूप से रामानुज की व्याख्या से उक्त परिभाषा भिन्न अर्थ रखती है। आचार्य पतजलि कहते है–

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'।

(योगसूत्र – 3/2)

यहाँ भास्वतीकार 'एकतानता' का अभिप्राय 'तैलधारावद्विच्छिन्नप्रवाह' से लेते है[4]। पतजलि की उक्त परिभाषा मे 'प्रत्यय' द्वारासमस्तकोटिक ज्ञानो का ग्रहण हो जाता है, जबकि रामानुज स्मृति रूप ज्ञान की परम्परा को ही ध्यान मानते है। चूँकि रामानुज के अनुसार ध्रुवानुस्मृति ही भक्ति है अतएव ध्रुवानुस्मृतिरूप ध्यान भी भक्तिरूप हुआ। इसीलिए यह ध्यान प्राप्य भी है और प्रापक भी। प्रापक रूप ध्यान उत्तरोत्तरकालिक प्राप्य ध्यान का कारण होता है, जबकि इसके विपरीत पतजलि–प्रतिपादित ध्यान कार्यकारण होने पर अन्तिम रूप से प्राप्त नहीं है।

यह तो निश्चित हो गया कि तैलधारा के समान निरन्तर स्मृति का प्रवाह रूप ध्यान ही भक्ति है, परन्तु भक्ति की यह व्याख्या मान लेने पर कई विवाद उठ खडे होते है। भारतीय–साहित्य प्रमाण है कि इसी तरह का निरन्तर स्मृति–प्रवाह रूप ध्यान तो रावण ने भी राम का किया था। परन्तु शत्रु–बुद्धि से किये गये इस निरन्तर ध्यान को हम रावण के द्वारा की गयी राम की भक्ति के रूप मे व्याख्यायित नहीं कर सकते। इसी प्रकार 'कस' को निरन्तर 'कृष्ण' का स्मरण रहा करता था परन्तु वह भी भक्ति की कोटि मे तो नहीं ही आता। अब प्रश्न यह है कि वह कौन सी शर्त है जिसके कारण स्मृति–सन्तानरूप ध्यान भक्ति हो जाता है? रामानुज कहते हैं कि स्मृति–सन्तान–रूप वह ध्यान जो प्रेममय हो अर्थात् स्नेहयुक्त हो उसे ही हम 'भक्ति' शब्द से कह सकते हैं। प्रमाण स्वरूप रामानुज श्लोकार्द्ध उद्वत करते है –

'स्नेह पूर्व मनोध्यान भक्तिरित्युच्यते बुधै ।

(गीताभाष्य भूमिका)

श्रुतियों मे भी प्रमाण मिलता है कि परमात्मा जिसको वरण करता है वही उसको प्राप्त करता है[5]। अर्थात् रामानुज निरतिशयता तक पहुँची हुई प्रीति को भक्ति मानते है और वही परमात्मा को प्रिय भी होता है। इस प्रकार के भक्त की मुक्ति के लिए परमात्मा स्वय

प्रयत्न करता है, ऐसा गीता कहती है[6]। अब पुन प्रश्न उठता है कि ध्यान की स्नेह रूपता स्वीकार कर लेने पर क्या सभी प्रकार के स्नेह भक्ति रूप होगे? इस प्रकार तो काम–भाव से कृष्ण को भजती गोपियॉ, सम्बन्ध से उत्पन्न स्नेहवश कृष्ण को भजते गोप, भक्ति के मानक सिद्ध होगे। और यह आश्चर्य भी नहीं कि भारतीय चितन मे ये न सिर्फ भक्त हैं वरन् जनमानस इनकी भक्ति को पराकाष्ठा पर पहुँची हुई भक्ति मानता है। परन्तु रामानुज के साथ ऐसा नही है। वे भक्ति के एक दार्शनिक निकाय के रूप मे वैज्ञानिक विवेचन को तत्पर हुए है। इस शब्द मे किसी प्रकार की द्वयार्थकता या व्याभिश्र उन्हे प्रिय नही, इसलिए वे इस प्रकार की भक्ति को भक्ति के रूप मे नहीं देखते। उनके अनुसार ध्यान के भक्ति होने के लिए आवश्यक स्नेह को सात्विक अर्थात् मोक्ष मे प्रयुक्त करने वाला और अधर्म से पृथक करने वाला होना चाहिये। गोपियों का प्रेम सकाम होने के कारण रजोगुणी है। अतएव, उसे भक्ति की कोटि मे नही रखा जा सकता। इसी प्रकार ईर्ष्या, द्वेष आदि के कारण शिशुपाल, कस आदि के प्रति कृष्ण द्वारा की गयी दया, उनकी भक्ति के प्रति कृष्ण की सदाशयता न होकर कृष्ण के द्वारा करूणावशात् पापियो पर की गयी दया का उदाहरण है। रामानुज यह मानते है कि भक्ति त्रैवर्णिक, स्वाध्याय सम्पन्न साधको के द्वारा ही अनुष्ठेय है और सत्‌गुणी साधक ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। अत. गोपियॉ और कसादि भक्ति के अधिकारी नहीं है। इनके द्वारा प्राप्त मोक्ष, इनकी उपायसामर्थ्य का फल नही वरन् भगवान श्रीकृष्ण की अहैतुक कृपा है जो उनका विशेषाधिकार है। गोपियों ने अपने अहभाव का पूर्णतया परित्याग कर के अपने को भगवान श्रीकृष्ण के प्रति समर्पित कर दिया था। भगवान श्रीकृष्ण ही उनके सर्वस्व थे तथा कल्पना मे भी उनका पल भर का वियोग गोपियो के लिए असह्य था। गोपियो की यह तन्मयता निश्चित ही रामानुज के प्रपत्ति–सिद्धान्त का सुस्पष्ट उदाहरण है जो भक्ति का अग होने के साथ–साथ मोक्ष का स्वतन्त्र साधन भी है। भगवतकार किसी भी प्रकार श्रीकृष्ण मे मन लगाने को भक्ति मानते हैं तथा इस दृष्टिकोण से उनकी भक्ति का परिप्रेक्ष्य बहुत व्यापक है। वहॉ अहंभाव से विरहित हो अपना सर्वस्व समर्पण भक्ति की एकमात्र शर्त है,

जिसके परिणाम स्वरूप भगवान् कृष्ण की सन्निधि, उनके दिव्य श्री विग्रह का सानिध्य प्राप्त हो सकता है। रामानुज इसे भी मानते है परन्तु वे इसे 'प्रपत्ति' या शरणागति का नाम देते है। साधको से इतर सामान्य जनों के लिए इस स्वतन्त्र मार्ग का विधान तो वे करते है परन्तु भक्ति उनके लिए इससे भिन्न एक पात्रता है जिसके लिये व्यक्ति को अधिकारी होना पडेगा। जो जन भक्ति के लिए अशक्त है, वे प्रपत्ति के माध्यम से मोक्ष–साधन कर सकते है। अतएव, भागवत्कार के द्वारा वर्णित गोपियो की भक्ति, भक्ति नहीं, प्रपत्ति है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मृति–प्रवाह रूप ध्यान स्नेहपूर्वक होना चाहिये। साथ ही इस ध्यान का ध्येय किसी अन्य विषय का स्नेहपूर्वक चितन नहीं वरन् परम पुरूषोत्तम भगवान नारायण को ही होना चाहिये। क्योकि परम पुरूषोत्तम भगवान नारायण को छोडकर अन्य सभी कर्म के वशीभूत होने के कारण ध्यान के विषय नहीं हो सकते[7]।

उपासना का स्वरूप तथा ज्ञान व भक्ति से सम्बन्ध :-

पौरस्त्य साहित्य–परम्परा में प्राचीन काल से उपासना के प्रमाण मिलते रहे है। ऋग्वेदकालीन समाज मे यजमान यज्ञो के द्वारा, यज्ञ मे पढे जाने वाले मत्रो के द्वारा अग्नि, इन्द्र, रूद्र, मरूत इत्यादि देवताओ की स्तुति किया करता था, जो एक रूप मे उपासना ही थी। ऋषियो के द्वारा तत्व ज्ञान के लिए, उपासना का विधान आरण्यको, उपनिषदो मे मिलता है। निघण्टुकार ने 'सेवाभक्तिरूपास्ति.' के प्रयोग के द्वारा उपासना को भक्ति का पर्याय माना है। जिसको आचार्य रामानुज ने 'उपासना पर्यायत्वाद्भक्ति शब्दस्य' द्वारा अभिव्यक्त किया है[8]। भक्ति का पर्याय और परमप्राप्ति का उपाय होने के कारण ही उपासना स्मृति–सन्तानरूप और दर्शन–समानाकारिता से भिन्न नहीं है। रामानुज मानते हैं कि उपासना और ध्यान दोनों ही, चूँकि श्रुतियों में मोक्ष साधन–रूप में ही व्यवहृत किये गये है अतएव दोनो पर्याय रूप हैं। उपासना शब्द की निष्पत्तिकरण अर्थ में 'उपसमीपेआस्यतेयायाइति' और भाव अर्थ में 'उपसमीपे आसचमिति उपासना' इस प्रकार से होगी। करण व्युत्पत्ति के

मानने पर उपासना का अभिप्राय 'जिस साधन के द्वारा देवता के समीप पहुँचा जाय' ऐसा होगा। 'भाव' अर्थ मे व्युत्पत्ति मानने पर 'देवता के समीप पहुँचना'–उपासना का यह अर्थ होगा। यदि इन दोनो ही व्युत्पत्तिजन्य अर्थो पर विचार किया जाय तो उपासना और ध्यान के स्वरूप मे पर्याप्त अन्तर दिखाई पडता है। 'उपासना' शब्द ध्यान की अपेक्षा अधिक व्यापक है क्योकि ध्यान किसी वस्तु का तभी होता है जब ध्याता की चित्तवृति किसी भी माध्यम से, चाहे वह स्मृतिरूप हो अथवा प्रत्यक्षरूप, ध्येय के समीप पहुँच जाय। रामानुज ध्यान की स्मृतिसन्तानरूपता स्वीकार करते हैं। अतएव, उनके अनुसार ध्येय के समीप पहुँचाने का माध्यम स्मृति–रूप ही होगा। इस प्रकार व्युत्पत्तिजन्य 'समीप पहुँचने के माध्यम रूप' अथवा 'पहुँचना रूप' उपासना की स्मृतिरूपता होने पर भी ध्यान के साथ उसकी पर्यायता आचार्य रामानुज को अभीष्ट है।

ध्यान और उपासना की पर्यायरूपता सिद्ध होने पर प्रश्न यह उठता है कि क्या भक्ति और उपासना में भी तादात्म्य है? वस्तुत उपासना और भक्ति मे अवस्था एव साध्यता का अन्तर है। भक्ति जहाँ स्वय मे साध्य है, उपासना उसकी एक विशिष्ट अवस्थागत स्थिति या साधन है। उपासनाये भिन्न–भिन्न प्रकार की हो सकती है परन्तु भक्ति अपने आप मे एक है। रामानुज अपने 'गीताभाष्य' में भगवान नारायण की सन्निधि–प्राप्ति के उपायभूत उपासना के लिए 'भक्तिरूपापन्नमेव' विशेषण का प्रयोग करते है। इस विशेषण के प्रयोग से ही यह सिद्ध हो जाता है कि रामानुज उपासना को व्यापक एव भक्ति को व्याप्य मानते है। उपासना परमपुरूष के अतिरिक्त अन्य विषयों की भी हो सकती है। साथ ही, उपासना मे आसक्ति का अश भी रहता है। किन्तु भक्ति में ऐसा नहीं है। भक्ति मे समर्पण है, आसक्ति नहीं, लगाव है पर मोह नहीं। इस दृष्टि से सभी प्रकार की भक्तियाँ उपासना के अन्तर्गत है, किन्तु सभी उपासनाये भक्ति नहीं हैं। केवल भक्ति रूप की उपासना ही परमपुरूष प्राप्ति का उपाय हो सकती है। श्रुतियों मे ज्ञान एवं उपासना को भी एकार्थकता दी गयी है जो रामानुज को भी मान्य है। श्रुति के प्रख्यात वाक्य 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' के द्वारा वेदन् एवं ध्यान की परस्पर

पर्यायता ऋषियो द्वारा सिद्ध की गयी है। ज्ञान की प्रक्रिया मे भी उपासना एव ध्यान की आवश्यकता पडती है, ऐसा रामानुज को भी मान्य है। आचार्य रामानुज श्रुतिविहित वेदन् और उपासना को एकार्थक मानते है क्योकि श्रुतियो मे 'विद्' और 'उपास्' का व्यतिरेक क्रम से उपक्रम और उपसहार रूप से प्रयोग हुआ है। 'छान्दोग्योपनिषद्' मे 'मनोब्रह्मेत्युपासीत्' ऐसा उपक्रम करके 'भाति च तपति च कीर्त्यायशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद' द्वारा उपसहार किया गया है। इसी प्रकार 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में भी 'न स वेद अकृत्स्नोह्येष 'ऐसा उपक्रम करके 'विद्' द्वरा कथित रैक्व के ज्ञान का 'आत्मेतेव तु उपासीत' द्वारा उपसहार का विधान किया गया है। उपनिषदो मे अन्य स्थलो पर भी इसी प्रकार क्रमेण वेदन् और उपासना द्वारा उपक्रम तथा उपसहार देखा जाता है। अतएव वेदन् व उपासना दोनो की मोक्ष रूप एक विषयता के कारण दोनो की एकार्थकता सिद्ध होती है। इस प्रकार, यह स्पष्ट होता है कि रामानुज श्रुति–स्मृतिविहित वेदन्, ध्यान और उपासना को भक्ति का पर्याय मानते है। इनकी पर्यायता मानने के पीछे एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि इन्हे भिन्न मानने पर श्रुतियो मे परस्पर विरोध उत्पन्न होगा जो श्रुतियो के अर्थ का अनुस्मरण करने वाली स्मृत्यादि का भी श्रुति–विरोध उत्पन्न कर देगा और यह परम्पराभजक एवं अनर्थ का हेतु होगा।

<u>भक्ति और सेवा :-</u>

स्मृतिकार बोधायन ने भक्ति की व्युत्पत्ति बताते हुए उसे सेवा कहा है–

'भज् इत्येष धातुर्वे सेवायां परिकीर्तितः।
तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिशब्देन भूयसी।।

(बोधायन स्मृति तात्पर्य दीपिका वे०सं०–352)

भक्ति की व्युत्पत्ति 'भज् सेवायाम्' से हुई है, ऐसा दक्षिण भारत में प्रचलित भगवान नारायण की सेवा विधि से भी प्रमाणित हो जाता है। दक्षिण भारत के मंदिरों में दिन–रात के आठो याम विविध–प्रकार की सेवाओं के आयोजन होते हैं। अनुभव सिद्ध भी है

कि जिसे पूज्य या श्रद्धास्पद माना जाता है उसकी सेवा करने से वाछित फल की प्राप्ति होती है–

अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविन ।

चत्वारितस्यवर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ।।

वैसे तो लोक मे सेवा अधम मानी गयी है, किन्तु 'वेदार्थ–सग्रह' मे रामानुज सेवा को भी भक्ति मानते हैं। उनके अनुसार सत्ससकल्प, परमकारूणिक भगवान् श्रीमन्नारायण की सेवा भक्ति शब्द वाच्य है[10]। गीता मे भगवान् श्री कृष्ण ने साधक को मोक्ष की पात्रता के लिए भक्तियोग द्वारा स्वकीय सेवा का निर्देश किया है–

माग योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

(गीता 4/26)

इस प्रकार सूक्ष्म अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि लोक मे भी सेवा के द्वारा फल प्राप्ति हुई है। कर्ण का परशुराम से अमोध अस्त्र पाना, अर्जुन का कृष्ण से सारथी होने का वचन पाना, इसी प्रकार के दृष्टान्त है।

वस्तुतः इन शब्दो पर, पर्यायता की दृष्टि से, विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि इन शब्दो के मध्य, परस्पर पर्याय होने पर भी, अवस्थागत कुछ भेद अवश्य विद्यमान हैं। जिस प्रकार कोई भी शब्द अपने व्युत्पत्तिजन्य अर्थ से किसी कालगत या स्वभावगत वैशिष्ट्य का बोध कराता है (जैसे परंतप), उसी प्रकार भक्ति के पर्याय रूप ध्यानादि शब्द भक्ति के अवस्थागत वैशिष्ट्य को व्यक्त करते है। इस आधार पर निश्चितरूपेण सेवा को भक्ति की प्राथमिक स्थिति, जिसके अन्तर्गत पूजा, अर्चना वन्दना आदि आते हैं, माना जा सकता है।

वेदन अवस्थागत भेद से प्रारम्भिक ज्ञान और ईश्वर के परज्ञान के रूप में भक्ति का पर्याय है। ईश्वर के समीप चित्त को ले जाना या पहुँचाना, उपासना रूप भक्ति और उसके बाद उसमे निहित अविच्छिन्न स्मृति–सन्तान को 'ध्यानरूप भक्ति' कहा जा सकता है।

भक्ति के प्रकार :-

अब तक के विवेचन से यह ज्ञात हुआ है कि भक्ति जहाँ एक ओर भगवान नारायण के सामीप्य का साधन है, वही दूसरी ओर भक्ति की स्वयसाध्यता भी सिद्ध हो चुकी है। रामानुज प्रतिपादित भक्ति साधक के लिए उपाय भी है और उपेय भी। इस प्रकार यदि अवस्था भेद की दृष्टि से देखा जाय तो भक्ति को दो रूपों मे विभाजित किया जा सकता है –

(ii) **पर भक्ति :-**

भक्ति की इस अवस्था को साधन–भक्ति कहते है। इसके अन्तर्गत इष्ट की सासारिक रीति से सेवा से लेकर भगवान नारायण के सामीप्य की प्राप्ति के पूर्व तक की स्थितियाँ आ जाती है। भागवत् पुराण मे वर्णित नवधा भक्ति इसी 'पर–भक्ति' के अन्तर्गत आती है। 'पाचरात्र–साहित्य' में उपासना के अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग नामक पाँचों प्रकार, जिन्हे श्रीवैष्णव सम्प्रदायाचार्य भी स्वीकार करते हैं, मिलते हैं। अभिगमन से तात्पर्य देवस्थान को स्वच्छ रखने आदि से है। उपादान गन्ध, पुष्प, धूप, दीप नैवेद्य आदि देव–पूजन सामग्री के एकत्रीकरण को कहते है। देव पूजन को इज्या और अर्थानुसधान पुरस्सर वैशणव मंत्रों, सूक्तों और स्तोत्रो के पाठ को 'स्वाध्याय' कहते है। योग शब्द का अभिप्राय अपने आराध्य देव के ध्यान से है। इस प्रकार परमात्मा के सान्निध्यरूप फल को प्राप्त करने के लिए साधकों के द्वारा जो भी कर्मकाण्डात्मक या मननात्मक क्रियाकलाप किये जाते हैं, वे सभी इसी 'पर–भक्ति' या 'साधन–भक्ति' के अन्तर्गत आ जाते हैं। साधन–भक्ति की इसी अवस्था में भक्त अपनी पात्रता प्रमाणित करने के लिए शमदमादि षट्कसंपत्ति द्वारा

अन्त करण को निर्मल करता है तथा ब्रह्मसाक्षात्कार या परमपददर्शन के लिए उद्यत हो जाता है। यही साक्षात्काराभिनिवेश भाष्यकार के मत मे 'परभक्ति' है।

(iii) <u>परम भक्ति :-</u>

इस साक्षात्कार के अनन्तर जब साधक उस परमतत्व के अनुभव की आनन्द–राशि मे निमग्न हो जाता है तो वही साक्षात्कारानुभवानिवेश भक्ति की चरमावस्था या उपेयरूपा परम भक्ति है –

'स्वस्वाभिन्यत्यर्थप्रियानुभवरूपा परा भक्ति लभते।

(गीता भाष्य -18/53)

इसी सन्दर्भ में भगवान् रामानुज द्वारा उद्धृत गीता के 'भक्त्या मामभिजानाति ' इत्यादि श्लोक की व्याख्या करते हुए 'वेदार्थ–सग्रह' के प्रसिद्ध व्याख्याकार श्री सुदर्शन सूरि ने उक्त भेद को विधिवत् स्पष्ट किया है। उक्त व्याख्या मे श्री सुदर्शन सूरि ने 'भक्त्या' द्वारा परभक्ति, 'अभिजानाति' द्वारा पर–ज्ञान, और 'विशते' द्वारा अनुभवरूप परमभक्ति का ग्रहण किया है। इन तीनो के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे लिखते है –

"साक्षात्काराभिनिवेश परभक्ति साक्षात्कारः परज्ञानम्

पश्चादनुभवाभिनिवेश परम् भक्ति"।

पुनश्च, परमभक्ति की उत्पत्ति की प्रक्रिया को भी वे स्पष्ट करते है –

"प्रीतिरूपध्यानेन निरतिशयानन्दरूपदिव्यात्मस्वरूपानुसधानम्

निरतिशयप्रियम् सिध्यति। तदैव साक्षात्काररूपमनुभवाभिनिवेशं

जनयति सोऽभिनिवेशः परमं भक्तिरिति"।

श्री सूरि के अनुसार प्रतिदिन किये जाने वाले परभक्ति के अभ्यास द्वारा ही परमंभक्ति की सिद्धि होती है। इस अवस्था मे साधक का ईश्वर के प्रति प्रेम अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। अपने प्रियतम् के प्रीतिरूप अनुभव के अतिरिक्त अन्य किसी भी चीज से, उसका किसी भी प्रकार का लगाव नहीं रहता। उसके लिए उसका प्रियतम वह 'ईश्वर' ही सब कुछ है। इस प्रकार, इस अवस्था मे वह भक्त आनन्द के सोमरस से तृप्त हो, निरन्तर उसी ईश्वर को भजता रहता है। अर्थात् उसकी चिदाकारता बनी रहती है।

भक्ति के साधन :-

भक्तिरूपापन्न ध्रुवानुस्मृति की निष्पत्ति किन साधनो से सापेक्ष है? इस पर प्रकाश डालने हेतु रामानुज ने वृत्तिकार को उद्धृत किया है। वृत्तिकार बोधायन ने विवेकादि से ही ध्रुवानुस्मृति की प्राप्ति कहा है। उन्हीं के शब्दो मे :-

तल्लब्धिर्विवेकविभोकाभ्यासक्रियाकल्याणनवसादानुद्धर्षेभ्य

सम्भवान्निर्वचनाच्च।[11]

अर्थात् ध्रुवानुस्मृति की विवेकादि से निष्पत्ति विवेकादि के "एकत्रयोग्यतया विरोधाभावप्रसगात्" और "युक्तिसहितादागमात्" से युक्त होने के कारण है।

विवेक :-

भाष्यकार ने 'श्री भाष्य' मे विवेकादि साधन—सप्तक के स्वरूप को विधिना स्पष्ट किया है। जिसके अनुसार जाति, आश्रय और निमित्त से अदुष्ट अन्न द्वारा शरीर की शुद्धि "विवेक" है[12]। यहा पर जातिदुष्ट का अभिप्राय कलंजगृजनादि अभक्ष्य अन्न से, आश्रय दुष्ट या चाण्डालादि के अन्न से, एव निभित्तदुष्ट या जूठे एवं केशादि अशुद्ध द्रव्ययुक्त अन्न से है। इस विषय में श्रुति प्रमाण है कि "आहार की शुद्धि होने पर सत्व (अन्त·करण) की शुद्धि होती है, सत्व की शुद्धि होने पर ध्रुवानुस्मृति होती है।

विमोक :-

काम्य–विषयो मे आसक्ति न होना "विमोक" है[13]। अर्थात् साधक को किसी भी पुत्रादि प्राकृतिक वस्तुओ मे आसक्ति न रखकर परमाराध्य के प्रति आसक्त होना चाहिये। यहां पर निषेधमुखेन परमाराध्य की आसक्ति का विधान किया गया है। श्रुति भी कहती है कि "(कामादि) से शान्त होकर (परमात्मा की) उपासना करनी चाहिये।

अभ्यास :-

"(ध्यानके) आलम्बनभूत विषय (आकार) का पौनपुन्येन चिन्तन "अभ्यास" है[14]। अभ्यास का उदाहरण अशोकवाटिका मे सीता जी की स्थिति है। इसका समर्थन गीता मे "सर्वदा" उस (परमात्मा) के भाव (स्वभावरूप कल्याण गुणगणो के अनुसन्धान) मे (ध्याता) निमग्न रहता है।"

क्रिया :-

पचमहायज्ञादि का यथाशक्ति अनुष्ठान क्रिया है[15]। ध्रुवानुस्मृतिरूप भक्ति की उत्पत्ति मे "क्रिया" की आवश्यकता का श्रुतियॉ समर्थन करती हैं। "यथायज्ञादि क्रिया से युक्त (पुरूष) ब्रह्मविदों में श्रेष्ठ है"। "उस इस (परमात्मा) को वेदाध्ययन, यज्ञदान, और न नष्ट होने वाले तप के द्वारा ब्राह्मणगण जानने की इच्छा करते है।

कल्याण :-

"सत्य, सरलता, दया[16], दान[17] अंहिसा अनभिध्या[18] (सफल चिन्ता) को कल्याण कहते है[19]। यहा सत्य का तात्पर्य जो पदार्थ जैसा हो उस सम्बन्ध मे वैसी ही वाणी और मन के होने से है। किसी भी प्रकार (कायिक वाचिक, मानसिक) हिसा न करना ही अहिंसा है[20]। श्रुति कहती है कि "सत्य द्वारा प्राप्त होता है। "उनके लिये ही यह निर्दोष ब्रह्मलोक है।

अनवसाद :-

"देश–काल के वैगुण्य (विपरीतता) से, शोक देने वाली वस्तुओ के स्मरण से उत्पन्न दीनता एव मन की अप्रसन्नता (प्रकाशशून्यता) को अवसाद कहते हैं। इसके विपरीतार्थक होना अनवसाद है[21]। इसका अभिप्राय है कि विपरीत परिस्थितियो मे भी साधक का मन प्रसन्न रहना चाहिये। शीतोष्णद्वन्दसहिष्णुत्वरूप तितिक्षा इसी का समानार्थक है। इसी तथ्य की "यह आत्मा बलहीनो द्वारा प्राप्त नहीं है" इत्यादि श्रुतियॉ भी स्पष्ट करती है।

अनुद्धर्ष :-

देश–काल की अनुकूलता और सन्तोष देने वाली वस्तुओ के स्मरण से उत्पन्न सन्तोष "उद्धर्ष" है। इसके विपरीतार्थक होना ही अनुद्धर्ष है[22]। साधन सप्तक के मध्य "अनुद्धर्ष" के ग्रहण से स्पष्ट है कि अतिसन्तोष परमात्मा की प्राप्ति में बाधक है श्रुतियो मे उल्लिखित सन्तोष नहीं। इसमे श्रुति प्रमाण है–शान्ती दान्त. इत्यादि।

उपर्युक्त साधन सप्तक, जिसे रामानुज "नियम" कहते है साधक के वे आवश्यक गुण हैं जिनसे युक्त होने पर आश्रम विहित कर्मो के अनुष्ठान के द्वारा भक्ति की निष्पत्ति होती है। इन आवश्यक गुणो के अन्तर्गत भोजन की शुद्धता से लेकर अन्त करण की पवित्रता तक समाविष्ट हैं भक्तिरूप ध्रुवानुस्मृति की उत्पत्ति हेतु इन गुणो का साधक मे विकसित होना परमावश्यक है। रामानुज वृत्तिकार द्वरा प्रतिपादित विवेकादिको भक्ति योग की सिद्धि मे प्राथमिक आवश्यकता के रूप मे यथावत् स्वीकार करते हुये आश्रम विहित कर्मो के अनुष्ठान को भी आवश्यक मानते हैं। जिसका विशद् निरूपण हम आगे करेगे।

आचार्य रामानुज भक्ति के साधको को चार कोटियों मे विभक्त करते हैं।

1- **आर्त-** इस कोटि के भक्त अपनी खोई हुयी प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य को पुनः प्राप्त करना चाहते हैं[23]।

2- **अर्थार्थी-** इस प्रकार के साधक (भक्त) अप्राप्त ऐश्वर्य को प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं।[24]

3- **जिज्ञासु-** प्रकृतिवियुक्त आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के इच्छुक भक्त "जिज्ञासु" कहलाते हैं।[25]

4- **ज्ञानी-** अपने को भगवान् के अधीन समझता हुआ भगवान् को परमप्राप्य मानने वाला भक्त "ज्ञानी" कहा जाता है[26]। रामानुज के अनुसार इन चारो मे प्रपत्ति वैशिष्ट्य के आधार पर उत्तरोत्तरक्रम से अन्तिम अर्थात् ज्ञानी भक्त ही उत्तम होते है। तदितर तीनो भक्त के प्राप्य भगवान् से भिन्न है, वे अपने अभीष्ट की प्राप्ति मे भगवान् को साधन मानकर, अभीष्ट–प्राप्तिपर्यन्त ही भक्ति करते है। किन्तु ज्ञानी भक्त के लिये तो सदैव भगवान् ही प्राप्य हैं, तदितर किसी अन्य मे उसकी भक्ति नहीं होती है। इसी कारण भगवान् को ज्ञानी भक्त ही प्रिय होते हैं। ज्ञानभक्तो के आदर्श हैं प्रह्लाद। प्रह्लाद भगवान् मे इतने आसक्त–चित्त होते है कि जब उनके पिता के आदेश पर उन्हें सर्पो से कटवाया जाता है तो भी वे उस सर्पदश को नहीं जान पाते।[27]

इस प्रकार आचार्य रामानुज द्वारा उद्देश्यभेद से भक्तो के चार प्रकार स्वीकार करने से सुस्पष्ट है कि भक्ति का उद्देश्य परमपुरूषोत्तम भगवान् श्रीमन्नारायण की प्राप्ति से भिन्न ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति भी होती है। आचार्य रामानुज की यही मान्यता भक्ति को प्रपत्ति से पृथक भी करती है।

प्रपत्ति का स्वरूप :-

इतिहास साक्षी है कि भक्ति के इतस्तत· बिखरे सूत्रो को एक स्थान पर एकत्रित कर उसे दार्शनिक निकाय का रूप देने का गौरव आचार्य रामानुज ने प्राप्त किया। शंकराचार्य

के ज्ञानरूप मुक्तियान की विराटता मे प्राकृतजन अपने को बौना एव ठगा सा अनुभव कर रहा था। ज्ञान के कठिन मार्ग पर चल सकने का असीमित धैर्य एव दृढ प्रतिबद्धता उसके पास नही थी। फलत वह विकल्पहीनता मे भटक रहा था। शकराचार्य के यहॉ उस आम दलित, वचित, कृच्छ अकिचन जन सामान्य के पास पाने के लिए कुछ न था। ऐसे वचित वर्ग को रामानुज ने नारायणाश्रय की छॉह दी। जो दीनता अब तक उसके लिए ग्लानि का हेतु थी, वही अनायास मोक्ष का सोपान हो उठी। उसकी विपत्ति का वह रूदन, उसकी वह आर्त पुकार शकर के मत्र पारायण से किचित आगे बढ परमपुरूषोत्तम श्री विष्णु के कर्ण–कुहरो को व्यथित करने लगी, बस फिर क्या था (?), मुक्ति के द्वार खुल गये, और ऐसा भी नही कि रामानुज ने भक्ति को खाला का घर बना दिया हो। भक्ति अभी भी त्रैवर्णिक साधको के लिए ही अनुष्ठेय थी जिसमें आचारगत पवित्रता एव सोपानक्रम से आगे बढती साधनाओ की अनिवार्यता थी। परन्तु, उसके समानान्तर ही प्रपत्ति या शरणागति का विकल्प भी खुल गया था जिससे जनसामान्य को आश्रय मिला। भक्ति के ज्ञान एव कर्म परक होने से उसकी सार्वभौमिकता में कमी आ गयी थी एव जनसामान्य की परिधि से उसकी दूरी बढ गयी थी। शूद्र हो या चाण्डाल, सम्पूर्ण समाज का अर्धांश नारी वर्ग हो या भौतिक चाक–चिक्य मे फॅसकर अपने कर्तव्यो से च्युत कोई अन्य व्यक्ति या समुदाय, वे ज्ञान कर्माभाव मे परमपुरूष–प्राप्ति के उपायभूत भक्ति से वचित रह जाते। इन्हीं के लिये आचार्य ने जिस प्रपत्ति मार्ग का प्रतिपादन किया उसके लिए न तो शास्त्राध्ययन की अनिवार्यता है और न ही वर्णाश्रम –व्यवस्था का कठोर बंधन। रामानुज के परवर्ती आचार्य वेदान्तदेशिक तो यहॉ तक कहते है कि जिस ईश्वर की प्रपत्ति या शरणागति का अधिकार पशु–पक्षियो तक को है, उसे करने के लिए मनुष्यो में विरोध ही कहॉ(?)

"यत्र च तिरश्चामपिअधिकारः तत्र द्विपंदां क परिपन्थि(?)

(शतदूषणी वाद सं०–62)

प्रपत्ति का स्वरूप करते हुए भगवान रामानुज प्रपत्ति शब्द का प्रयोग शरणागति के ही अर्थों मे करते है। गीता का एक श्लोक इस अर्थ की पुष्टि भी करता है –

"दैवी ह्येषा गुणमयी ममप्रायादुरत्यया।

मामेवयेप्रपद्यन्ते मायामेता तरन्ति ते।।

इसमें प्रपद्यन्ते पद के द्वारा सत्यसकल्प परमकारूणिक भगवान् श्रीमन्नारायण की शरणागति का विधान किया गया है। प्रपत्ति या शरणागति के इसी स्वरूप को आचार्यपाद रामानुज के गुरू यामुनाचार्य ने विधिवत् सुस्पष्ट किया है–

"स्वयथात्म्यप्रकृत्यास्यतिरोधिः शरणागति"।

अर्थात् अपने याथात्म्य परमात्मा मे स्वाभाविक रूप से जीव का तिरोभाव शरणागति है। इसका तात्पर्य यह है कि जब जीव अपने भीतर विकार रूप मे अवस्थित अहभाव से पूर्ण रूपेण मुक्ति पा लेता है और अपना निःस्वार्थ समर्पण अपने आराध्य ईश्वर के प्रति कर देता है, तो वही शरणागति है। स्व का परमसत्ता मे विलय शरणागति है जहॉ जीव के बारे मे सब कुछ निर्णय लेने का अधिकार परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। यह अहकार ही जीव का वह सबसे बडा शत्रु है जिससे युक्त हो जीव मे कर्त्तृव्य और मोक्तृत्व का अभिमान आ जाता है। रामानुज कहते है कि ईश्वर को जीव, का अभिमान कभी प्रिय नहीं होता। वस्तुत उसे किसी भी प्रकार की कामना से अलिप्त होना चाहिये। प्रपत्ति का मार्ग तो अहकार के सूक्ष्मतम् सस्कारो के अभिविनाश की अपेक्षा रखता है। अहकार का पूर्ण विलयन अर्थात् उसके समूल परित्याग द्वारा ही प्रपत्ति या शरणागति का मार्ग प्रशस्त होता है। तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति स्वभावत पुण्यशील एवं मुक्तिकामना से रहित होता है, वही प्रपत्ति मार्ग का वास्तविक आराधक है। अत प्रपत्ति समर्पण है, जिसमे स्वत्त्व का विलय एवं आराध्य के सामीप्य का विधायन है। बौद्ध धर्म के तीन महावाक्य –

'बुद्ध शरण गच्छामि' 'सघ शरण गच्छामि' 'धम्म शरण गच्छामि'– भी इसी प्रपत्ति की सर्वव्यापकता को विज्ञापित करते है।

<u>मोक्ष–साधिकाप्रपत्ति एवं भक्ति से उसका स्वातन्त्र्य :–</u>

रामानुज प्रपत्ति को संसार–सागर से तारने वाली मोक्ष साधिका मानते है। वेदार्थ–सग्रह मे रामानुज ने प्रपत्ति की दो रूपो मे कल्पना की है जिसके अनुसार प्रपत्ति मुक्ति का स्वतन्त्र साधन तो है ही, भक्ति योग की निष्पत्ति के लिए भक्ति के अंग के रूप मे भी प्रपत्ति की अनिवार्य आवश्यकता होती है। रामानुज प्रपति के अभाव मे मोक्ष की सिद्धि भी असभव मानते हैं। वस्तुत उपासना ध्यान और शास्त्रोक्त वेदन् आदि भी तभी सभव है, जब सर्वस्व समर्पण का भाव लेकर अर्थात् अहं भाव से पूर्णतया मुक्त होकर साधक इनके साधन मे लगे। शरणागति के बिना ईश्वर या आराध्य द्रवित नहीं होता, जिससे मोक्ष साधने मे कठिनाई भी होती है। ज्ञान भी तभी मिल सकता है जब विनीत भाव से, शिष्यबुद्धि के द्वारा सेवा की वृति अपनायी जाय। उपासना शरणागति के बिना अधूरी रहती है। अतएव श्रुतियो मे प्राप्त वेदन् एव उपासना का प्रपत्ति से समान रूप से ग्रहण होता है, अतएव श्रुति विरोध भी नही उपस्थित होता। इस पर पुनः प्रश्न उठता है कि यदि उपासना रूप भक्ति को अपनी निष्पत्ति हेतु प्रपत्ति की आवश्यकता पडती ही है तो क्यो न प्रपत्ति को भक्ति का अग मान लिया जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मोक्ष रूप पुरूषार्थ–साधन में स्नानविधि के समान परस्पर विकल्प होने के कारण प्रपत्ति को भक्ति का अग नही स्वीकार करना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार स्नानविधि मे विकल्प होता है उसी प्रकार अधिकारी भेद से भक्ति और प्रपत्ति मे भी विकल्प है। तात्पर्य यह कि जैसे समुद्र या नदी तक जाने में समर्थ व्यक्ति, समुद्र या नदी मे स्नान करता है किन्तु अशक्त व्यक्ति नदी स्नान में समर्थ न होने के कारण उष्म जल मे ही स्नान कर लेता है और उसके लिए वह अधिकृत भी है; ठीक उसी प्रकार त्रैवार्णिक सस्कार सम्पन्न, शास्त्रादि ज्ञान से संयुक्त व्यक्तियों के लिये, जो अपनी मनः स्थिति को

भक्ति की उच्चतम साधना हेतु तैयार कर चुके हैं, उनक लिए तो भक्ति का विधान किया गया है किन्तु समाज के अक्षम, अनाधिकारी, अशक्त एव भक्ति साधना के अनुपयुक्त साधको के लिए आचार्य रामानुज प्रपत्ति का विवेचन करते है। अर्थात् प्रपत्ति भक्ति की निष्पत्ति मे सहायक तो है किन्तु उसका एक प्रकार मात्र नहीं है। अपने 'गद्यत्रय' मे आचार्यपाद मोक्ष–साधन के रूप मे प्रपत्ति के स्वतन्त्रोपायत्व का प्रतिपादन भी करते है। वाल्मिकि रामायण मे प्रपत्ति के इसी भाव को व्यक्त करते हुए ईश्वर के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की गयी है। वाल्मीकि स्वय इसी प्रपत्ति–भाव के माध्यम से ही मुक्त एव पूर्वकर्मसस्कारो से पृथक हो सके थे, यह सहज सिद्ध है। वे कहते हैं–

"शक्रदेव प्रपन्नाय तवास्मीति चयाचते।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् वृत मम।।

(वाल्मीकि रामायण – 6/18/33)

अर्थात प्रपत्ति मे जीव अपने अह का सर्वथा विसर्जन करके 'मैं तुम्हारा हूँ', 'तुम्ही मेरे आश्रय हो', इस प्रकार की भावना से अभिभूत होकर ईश्वर के प्रति अपने को समर्पित कर देता है। ईश्वर भी अपने शरण मे आये हुए भक्त को भवसागर के भयकर वात्याचक्र से मुक्त कर अभय प्रदान करता है। इसी प्रकार गीता में जीव के सर्वात्मना शरणगमन का विधान श्री कृष्ण ने किया है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रपत्ति के द्वारा रामानुज ने भारत वर्ष की अधिसंख्य जनता को उसकी हीनता के बोध से उबारा तथा मुक्ति के लिए वर्ण–गौरव के भ्रम को हटाकर भक्त के लिग, सम्प्रदाय, वर्ण, योनि आदि के प्रश्नो पर विराम लगा दिया। प्रपत्ति के अन्तर्गत भक्त की करूण पुकार ही पर्याप्त होती है।

प्रपत्ति व इसके विविध रूप :-

भाष्यकार रामानुज ने प्रपत्ति की व्याख्या करते हुए उसके पर्याय रूप मे कुछ अन्य शब्दो को महत्ता दी है। 'न्यास' और 'त्याग' ये दोनो भाव प्रपत्ति के साथ समानार्थकता रखते है। 'न्यास' शब्द से तात्पर्य अनासक्त भाव से शारीरिक, मानसिक बोध का समर्पण है। 'अहि बुंध्न्यसहिता' मे भी यज्ञ, तप, दानादि के अतिरिक्त न्यास का विधान किया गया है जिसका स्वरूप भगवान के प्रति आत्मसमर्पण से है–

"यानि नि श्रेयस्यसार्थानि चोदितानि तपासिवै"।

तेषा तु तपसा न्यासमतिरिक्त तप श्रुतम्।।"

(अहिर्बुध्न्यसहिता – 36/36/37)

त्याग भी वस्तुत न्यास के ही अर्थ मे भारतीय दार्शनिक जगत मे प्रयुक्त हुआ है। त्याग से गीता आदि शास्त्र समस्त वासनाओ का तथा कर्मफल की इच्छा का त्याग–यह अर्थ लेते है। इस प्रकार ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण रूप प्रपत्ति शरणागति न्यास, त्याग सभी एकार्थक है। 'तैत्तरीयोपनिषद्' मे 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्व मानषु' इत्यादि के द्वारा विहित त्याग प्रपत्ति ही है। आचार्य रामानुज ने उक्त श्रुति का व्याख्यान फलसग कर्त्तृव्य–त्यागरूपेण किया है, जो अगप्रपत्तिरूप है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भक्तियोग की सिद्धि के लिए भी प्रपत्ति की आवश्यकता पडती है। प्रपत्ति के अभाव मे भक्त को अपनी भक्ति का अहंकार हो सकता है, जो साधक की मुक्ति का सबसे बडा बाधक तत्व है। इसी अहंकार से मुक्त करने के लिए प्रपत्ति साधक के मन मे उसकी अकिचनता का बोध कराती है, साथ ही परमात्मा की सामर्थ्य का प्रकाशन भी करती है। इस प्रकार से प्रपत्ति भक्ति–योग की सिद्धि के लिए अत्यावश्यक सिद्ध होती है। गीता का भाष्य करते हुए आचार्य रामानुज भक्ति योग के प्रारम्भ के लिए प्रपत्ति या शरणागति को आवश्यक मानते है। न सिर्फ

भक्तियोग के प्रारम्भ वरन् उसके मध्य मे भी प्रपत्ति का भाव साधक की सिद्धि के लिए अपरिहार्य है। क्योंकि भक्ति के आरम्भ मे तो कुछ प्रयास करके वह पूर्वस्थित अह से मुक्त हो सकता है किन्तु भक्ति की साधना मे कुछ सिद्धि प्राप्त हो जाने के पश्चात गर्व या अभिमान के रूप मे इस अह के आ जाने की प्रबल सभावना रहती है। प्रपत्ति का भाव न होने पर साधना के मध्य मे उद्भूत हुआ यह अह साधक को स्खलित भी कर सकता है। अतएव भक्तियोग के लिए प्रपत्ति अपरिहार्य है।

<u>प्रपत्ति के अंग :-</u>

'अहिर्बुध्न्य संहिता' मे प्रपत्ति या शरणागति के छ अग माने गये है, जिसे आचार्य रामानुज सहित समस्त विशिष्टाद्वैती आचार्यो ने स्वीकार किया है –

"आनुकूलस्य सकल्प प्रतिकूलस्य वर्जनम्।

रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरण तथा।

आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागति।।"

(अहिर्बुध्यसहिता–37/28-29)

अर्थात्

(i) आनुकूलस्य सकल्प अर्थात् ईश्वराभिमत गुणों का अर्जन

(ii) प्रतिकूलस्य वर्जनम् अर्थात् ईश्वरानभिमत गुणो का वर्जन

(iii) रक्षिष्यतीति विश्वास अर्थात् ईश्वर रक्षा करेगा ऐसा विश्वास

(iv) गोप्तृत्वरण अर्थात् रक्षार्थ निवेदन

(v) कार्पण्य अर्थात् अपनी तुच्छता या अकिचनता का अनुभव

और

(vi) आत्मसमर्पण अर्थात् अहभाव का पूर्णतया विसर्जन करके ईश्वर के चरणो मे अपने को छोड देना। ये ही प्रपत्ति के छ अंग है। वस्तुत इनमे अन्तिम अग स्वय प्रपत्ति रूप है और अन्य उसके अगभूत। आत्मसमर्पण रूप प्रपत्ति तभी सिद्ध हो सकती है जब हम इन अगों की क्रमानुसारेण सिद्धि करते जायँ। दृश्य जगत मे भी पूर्ण आत्मसमर्पण उन्ही उपर्युक्त साधनास्थितियो से गुजरने के बाद सभव हो पाता है।

<u>प्रपत्ति–साधन में ज्ञान व कर्म की भूमिका :–</u>

पहले ही हम बता चुके है कि कर्म और ज्ञान भक्तियोग की प्रप्ति मे महत्वपूर्ण साधन के रूप मे व्यवहृत होते है। बिना शास्त्र विहित कर्मो के किये एव शास्त्रजन्य वेदन् के भक्ति अकेले नहीं सध सकती। इन दोनो के साथ मिलकर ही भक्ति समग्रता को प्राप्त करती है। यहाँ प्रपत्ति के स्वरूप–ज्ञान हेतु ज्ञान व कर्म की भूमिका परीक्षणीय है। मुख्यतया इस विचिकित्सा ने कालान्तर में रामानुज के अनुयायियों को दो भागो मे विभक्त कर दिया है। जिनमें से एक को 'टैगले' और दूसरे को 'वडगलै' मत कहते हैं। टैगले–मत के प्रमुख आचार्य लोकाचार्य, प्रपन्न व्यक्ति को सामान्य धर्मो के पालन से भी सर्वथा मुक्त कर देते है। उनके मत मे प्रपत्ति न तो पवित्र और अपवित्र स्थानो की मर्यादा से नियमित है और न कालविशेष से। उसे किसी भी प्रकार के जातिगत नियम अथवा फल भी बाधित नहीं करते। 'भारद्वाजंसहिता' कहती हैं –

'ब्रह्मछत्रविषः शूद्रा· स्त्रोयश्चान्तर जात्य.

सर्व एवं प्रपद्येरन् सर्वधातार्मच्युतम्।।'

अर्थात् भगवान श्री नारायण के शरणागत होने पर वह चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो, शूद्र हो, स्त्रियॉ हो या विजातीय कोई भी हो, नारायण उसे मुक्त कर देते है। इस तरह के शरणागत भक्त के लिए प्रपत्ति ही एक मात्र साधन है जिसके माध्यम से वह प्रभुचितन मे लीन रहता है। इस जगत मे रहकर मनुष्य एक प्रकार के मिथ्या स्वातन्त्र्यभाव से लिपटा रहता है जिस कारण उसे ईश्वरानुभव नहीं हो पाता। जैसे ही वह इस मिथ्या अहकार को छोडकर अपना परमध्येय आश्रय उन्हीं भगवान् श्री नारायण को बना लेता है तो भगवान् स्वय उसे मुक्त करने के लिए उद्यत हो जाते है। तब उसे अपनी चिता की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी भाव को अभिव्यक्त करती हुई लोक मे प्रचलित ये दो काव्य पक्तियॉ है –

हमे चिता नही उनकी, उन्हे चिता हमारी है।

हमारी नाव के रक्षक, सुदर्शन चक्रधारी हैं।।

अपने आराध्य के प्रति यह प्रणति लोक मे प्रपत्ति की स्थिति का परिचायक है। 'टैगले–मत मे 'मार्जार–शावक–न्याय' के अनुसार भगवान् भक्त की चिता स्वय करता है। लोकाचार्य के अनुसार जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चे की असहायता, हीनता को देखकर उसे स्वय उठाती है उसी प्रकार भगवान भी अपने भक्त का स्वेच्छया ग्रहण करता है। जिस प्रकार बिल्ली के बच्चे को किसी भी प्रकार का प्रयास नहीं करना पडता, उसी प्रकार प्रपत्ति की स्थिति मे मनुष्य के प्रयत्न पर कुछ भी निर्भर नहीं करता।

'टैगले–मत' मे लोकाचार्य ने प्रपत्ति के द्वारा प्राप्य परमश्रेय की चार पूर्वावस्थाये मानी है। पहली–ज्ञानदशा अर्थात् वह अवस्था जिसमे गुरू के उपदेश से प्रपन्न भक्त भगवान के सम्बन्ध मे यह यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है कि उसका भगवान से पृथक आस्तित्व नहीं है।

दूसरी–वरणदशा, जिसमें प्रपन्न भक्त असहाय शरणागत–भाव से भगवान् को ही

एकमात्र रक्षक के रूप मे अपनाता है। तीसरी–प्राप्ति–दशा–इसमे शरण मे आया हुआ भक्त भगवान को प्राप्त कर लेता है। अन्तिम दशा है प्राप्ति के बाद होने वाले आनन्द के अनुभव की दशा, जिसमे भक्त भगवान् की सन्निधि का अनुभव करके चरमश्रेय को प्राप्त कर लेता है।

इस विचार–सरणि के विपरीत एक अन्य पक्ष जिसे 'बडकलै' के नाम से जाना जाता है तथा जिसके प्रमुख आचार्य वेदान्त–देशिक है, प्रपत्ति मे भी कर्म की उपयोगिता को स्वीकार करता है। वेदान्त देशिक के अनुसार शास्त्रोक्त नित्य वर्णाश्रमादि कृत्यो का सम्पादन प्रपन्न भक्त के लिये भी अनिवार्य है क्योकि शास्त्र भगवान के आदेश है। 'बडकलै–मत' 'मर्कट–शावक न्याय' को मानता है जिसके अनुसार बंदर के बच्चे को अपने इच्छित स्थान पर जाने के लिए अपनी मॉ की पीठ पर स्वय चिपकने का उद्योग करना पडता है। इसी तरह साधक द्वारा सम्पादित कृत्यो से प्रसन्न होने पर ही भगवान् श्रीमन् नारायण उस पर कृपा करते है। अतएव यह मत ईश्वरानुकम्पा की प्राप्ति हेतु साधक के प्रयत्न को महत्ता देता है।

भक्ति और प्रपत्ति में अन्तरः–

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भक्ति और प्रपत्ति के स्वरूप मे पर्याप्त अन्तर है। जहॉ भक्ति ज्ञान एव कर्म के द्वारा निरन्तर ध्यानरूप अभ्यास से मात्र त्रैवर्णिक साधको द्वारा ही अनुष्ठेय है वहीं प्रपत्ति मे इस प्रकार का कोई शास्त्रीय बधन या वर्णगत मर्यादा नहीं है। भक्ति जहॉ निरन्तर ध्यान रूप है वहीं प्रपत्ति मे अपने आराध्य ईश्वर का ध्यान एक बार ही करना होता है एवं उसी मे तल्लीनता वाछनीय है। वाल्मीकि रामायण मे कहा गया है –

'सकृदेवप्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।

अभय सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।"

(वाल्मीकि रामायण – 6/18/33)

पुनश्च् भक्ति से प्रारब्ध–कर्म नष्ट नहीं होते किन्तु प्रपत्ति मे ईश्वर–कृपा द्वारा प्रारब्ध कर्मो का विनाश भी सम्भव है। तीसरा भेद यह है कि भक्ति मे अनेक सहायक पूजा–पद्धतियॉ है जिनमे निरतर कर्म और निरन्तर प्रयत्न आदि की आवश्यकता होती है जबकि प्रपत्ति मे असीमित श्रद्धा ही पर्याप्त है। भक्ति एव प्रपत्ति मे चौथा अन्तर यह है कि भक्ति बहुत समय तक नियोजित साधना के उपरान्त फल देती है जबकि प्रपत्ति के माध्यम से तत्काल परिणाम प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त भक्ति के उद्देश्य के अनुसार उससे भिन्न–भिन्न फल प्राप्त हो सकते है। किन्तु प्रपत्ति का लक्ष्य और फल एक मात्र भगवान् की प्रसाद–प्राप्ति है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि साधक जिस 'चरम' अर्थात् ईश्वर सामीप्य के लिए प्रयासरत होता है, उसमे कोई तात्विक वैभिन्नय है। यथार्थ यह है कि शरणागत भक्त प्रपत्ति की सिद्धि मे जिस ईश्वर–सान्निध्य का अनुभव करता है, वही अनुभव उसे भक्ति मे भी होता है। वेदान्त देशिक ने अपने 'न्याय–सिद्धाजन' मे तो अनेक स्थानो पर 'प्रपत्ति' की जगह 'साध्य–भक्ति' शब्द का प्रयोग किया है। इससे प्रमाणित होता है कि प्रपत्ति और भक्ति दोनो का चरम साध्य भगवान् श्रीमन् नारायण के सामीप्यकी प्राप्ति है और दोनो मे विभेद केवल साधन या साधको के भेद को लेकर है। भक्ति जहॉ त्रैवर्णिक स्वाध्याय सस्कार सम्पन्न लोगो के लिये ही उपलब्ध है वही प्रपत्ति सारे आर्तो को त्राण देने की औषधि हो जाती है।

प्रपत्ति के अन्तर्गत होने वाला समर्पण भी तीन प्रकार का हो सकता है।

(1) **फल समर्पण** - इसका तात्पर्य भक्त द्वारा अपनी भक्ति के एवज मे किसी प्रकार के फल की कामना के समर्पण से है। वह न तो आनन्द की कामना करता है और नही आत्मसतोष या मुक्ति की। भगवान् नारायण की प्रसन्नता ही उसका काम्य है। वह जो भी कार्य करता है वह ईश्वरार्पण–बुद्धि से करता है। इसी को रामानुज फल–त्याग या फल समर्पण कहते है।

(2) **भार-समर्पण** - भक्त जब ईश्वर के प्रति शरणागत होकर अपनी रक्षा का भार उन्ही पर छोड देता है तो उसे भार–समर्पण कहते है। जयन्त के द्वारा अपनी रक्षा के लिए भगवान् नारायण के श्री चरणो मे आत्मसमर्पण इसका ज्वलत उदाहरण है।

(3) **स्वरूप समर्पण** - इस समर्पण के अन्तर्गत शरणागत भक्त कर्त्तृव्य एव मोक्तृत्व के अभिमान से पूर्णतया रहित होने का प्रयास करता है। साथ ही इसमे आत्मनिक्षेप का वह भाव भी समाहित है जिससे भगवान् श्रीमन् नारायण की सन्निधि प्राप्त होती है।

परन्तु यहॉ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि दीन–हीन, आशक्त, अज्ञानी जनो को ईश्वर ज्ञान तो है ही नहीं, तो समर्पण कैसे सम्भव होगा(?)। इस समस्या का समाधान करते हुए भाष्यकार गुरू की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं। गुरू की शरण पकडने पर वह गुरू अपने शरणागत भक्त को श्रीमन् नारायण की शरण मे ले जाता है जहॉ भगवान् की दया की शुद्ध सारभूत लक्ष्मी जी शरणागत उस जीव के सभी पापो को नष्ट कर देती है और लक्ष्मी जी के प्रभाव के द्वारा ही भगवान् उस शरणागत पर दया करके अपना सामीप्य लाभ प्रदान करते है।

उपर्युक्त आत्म–समर्पण की प्रक्रिया से सुस्पष्ट है कि गुरू ईश्वर और जीव के मध्य माध्यम बनकर मुक्ति की यात्रा को सहज बना देता है। परवर्ती काल मे कबीर आदि साधको ने गुरू की महत्ता का प्रतिपादन इतने विस्तार और वैशिष्ट्य के साथ किया है कि गुरू साधना के पथ पर एक अनिवार्य अपरिहार्यता बन गया है। वस्तुत प्रपत्ति–पथ मे गुरू के रूप मे माध्यम की अनिवार्य परिकल्पना जहा आर्तजनो की पीडा के त्राण का हेतु बनती है वही इस पथ पर पुरोहितवाद के बढते हुए प्रभाव के प्रतिफल को भी स्पष्ट करती है। वस्तुत प्रपत्ति के रूप मे आचार्य रामानुज ने सम्पूर्ण वसुन्धरा को वह अमृतफल दे दिया, जिसके लिए उसे किसी पात्रता की प्रतीक्षा नही करनी है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

(1) स्मृतेर्ध्रुवत्व विसदृशबुद्धिव्यवधानरहितप्रवाहत्त्वम्।

(तत्वटीका पृष्ठ स० –89)

(2) वृक्षे–वृक्षे च पश्यामि चरिकृष्णाजिनाम्बरम्।

गृहीतधनुषं राम पाशहस्तमिवान्तकम्।।

(वाल्मीकि रामायण–3/39)

(3) ध्यान च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपम्।

(श्रीभाष्य – 1/1/1)

(4) धारणायत्ते देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्य वृत्तेर्या एकतानता

तैलधारावदेकतानप्रवाह प्रत्ययन्तरेणापरामृष्ट अन्यया वृत्या

असम्मिश्र प्रवाहस्तद्ध्यानम्।

(श्री भास्वती पृष्ठ – 283)

(5) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य तस्यैष आत्मा वृणुते तनूस्वाम्।।

(कठोपनिषद् – 1/2/23)

(6) तेषा सततयुक्ताना भजता प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं त येन मामुपयन्ति ते।।

(गीता – 10/10)

(7) आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ताः जगदन्तर्व्यवस्थिता ।

प्राणिन कर्मजनितससारवशवर्त्तिन ।।

यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारका ।

अविद्यान्तरगता सर्वे तेहि संसारगोचरा ।।

(श्रीभाष्य – 1/1/1)

(8) (वही – 1/1/1)

(9) उपासन भक्तिरूपापन्नमेव परमप्राप्त्युपायभूतमिति वेदान्तवाक्यसिद्धम् ।

(गीताभाष्य, सातवे अध्याय की भूमिका)

(10) स ह्याश्रमेरसदोपास्यरसमस्तरेक एवचेति सर्वेरात्मयाथात्म्यवेदिभि

सेव्य पुरुषोत्तम एक एव।

(वेदार्थ–सग्रह, पृष्ठ – 321)

(11) तत्वटीका – 1/1/1

(12) जात्याश्रयनिमित्तादुष्टादन्नात्कायशुद्धिर्विवेक ।

(बोधायनवृत्ति श्रीभाष्य)

(13) कामानभिष्वङ्ग· विमोक ।

(बोधायन वृत्ति श्रीभाष्य 1/1/1)

(14) आरम्भणसशीलन पुन पुनरभ्यास· ।

(वही – 1/1/1)

(15) पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानं शक्तितः क्रिया ।

(वही – 1/1/1)

(16) स्वार्थनिरपेक्षा परदु खनिराचिकीर्षादया ।

(श्रीभाष्य तत्त्वटीका– 1/1/1)

(17) न्यायसिद्धद्रव्यस्य यथाविधिपात्रसात्करणम् ।

(वही – 1/1/1)

(18) परप्रतिकूलचिन्तानिवृत्ति ।

(वही – 1/1/1)

(19) सत्यार्जवदयादानाहिसानभिध्या कल्याणानि ।

(बो० वृ० – 1/1/1)

(20) करणत्रयेण परपीडानिवृत्तिरहिसा ।

(श्रीभाष्य तत्वटीका – 1/1/1)

(21) देशकालवैगुण्याच्छोकवस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च ।

तज्ज दैन्यमाभास्वरत्वं मनसोऽवसाद ।

(बो० वृ० श्रीभाष्य – 1/1/1)

(22) तद्विपर्यजा तुष्टिरुद्धर्ष तद्विपर्ययोऽनुद्धर्ष. ।

(श्रीभाष्य – 1/1/1)

(23) आर्त्त प्रतिष्ठा हीनो भ्रष्टैश्वर्यः पुनस्तत्प्राप्तुकाम. ।

(गीताभाष्य, 7/16)

(24) अर्थादि अप्राप्तैश्वर्यतयैश्वर्यकाम· ।

(वहीं, 7/16)

(25) जिज्ञासु प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपावाप्तीच्छु ।

(वही, 7/16)

(26) ज्ञानी च भगवन्तमेव परमप्राप्य मन्वान ।

(वही, 7/16)

(27) सत्त्वासक्तिमति कृष्णे, दश्यमानो महोरगै ।

न विवेदऽऽत्मनो गात्र तत्स्मृत्याल्हासंस्थित ।

(विष्णु पुराण)

पञ्चम - अध्याय

'विशिष्टाद्वैत-वेदांत में ब्रह्म एवं जीव'

(१) ब्रह्म की सगुणता एवं वैष्णवी-भक्ति

(२) विशिष्टद्वैत का प्रतिपादन

(३) ब्रह्म के दो रूप

(४) ब्रह्म और जगत्

(५) परमतखण्डन

(६) अवतारवाद

(७) विशिष्टद्वैत-वेदांत में जीव

(८) आत्मा-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों का रामानुज द्वारा खण्डन

(९) आत्मा की स्वयं-प्रकाशिता

(१०) आत्मा की नित्यता

(११) अणु परिमाणी आत्मा

(१२) अनेकात्मवाद

(१३) जीवों के प्रकार

ब्रह्म की सगुणता एवं वैष्णवी-भक्ति :-

रामानुज एक दार्शनिक होने के साथ–साथ अत्यन्त उच्च कोटि के भक्त भी रहे हैं। एक ओर उन्होंने अपनी स्वतन्त्र दार्शनिक बुद्धि से विद्धज्जनों को सन्तुष्ट किया तो दूसरी ओर सामान्य एवं अशक्तजनो की आत्मा में भक्ति तत्व का संचार करके उन्हें आश्रय भी प्रदान किया। रामानुज का श्री वैष्णव सम्प्रदाय पांचरात्र आगम को अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं पवित्र मानता है, तथा इस कारण विष्णु के ही स्वरूप नारायण को उपास्य मानता है। रामानुज के अनुसार जिस व्यक्ति की प्रीति किसी महनीय सत्ता में होती है, वह भगवान पुरूषोत्तम श्रीमन् नारायण ही हैं। क्योंकि उनसे पृथक सम्पूर्ण जगत् अविद्यात्मक होने के कारण ध्यान का विषय नहीं हो सकता[1]। रामानुज की विचारधारा में ब्रह्म या ईश्वर का तात्पर्य केवल भगवान नारायण अर्थात विष्णु से है। क्योंकि समस्त श्रुतियाँ, स्मृतियाँ और पुराणादि परमतत्व के रूप में सत्, ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दों के द्वारा उन्हीं का वर्णन करते हैं। इन शब्दों से ध्वनित होने वाले अर्थ या वैशिष्ट्य का पर्यवसान नारायण के ही अर्थ में हुआ है, इसी प्रकार अन्यत्र भी प्रयुक्त होने वाले अक्षर, शिव, शम्भु, हिरण्यगर्भ, परब्रह्म, परमज्योति और परमात्मादि शब्दों का भी पर्यवसान उन–उन गुणों से विशिष्ट होने के कारण नारायण में ही होता है[2]। यही नहीं अनेक श्रुति वाक्यों में भी परमकारण के रूप में उल्लिखित विष्णु की नारायण से समानार्थकता होने के कारण भगवान विष्णु ही परमतत्व है; ऐसा निश्चय होता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रामानुज परमतत्व के रूप में नारायण विष्णु या ब्रह्म जो परस्पर पर्याय रूप हैं को स्वीकार करते हैं। सम्भवतः अपने आराध्य को विष्णुरूप मानने का कारण कदाचित् यह रहा होगा कि उनके स्वरूप में उपस्थित परदुखःकातरता के तत्व से सामान्यजन को आस्वस्ति मिलेगी। इसके पूर्व का सम्पूर्ण ब्रह्म–चिन्तन एकांगी बनकर रह गया था, जो मनीषियों के द्वारा दृश्यमान जगत् से पृथक एक ऐसी परमसत्ता की परिकल्पना था, जिसके द्वारा इस संसार के विलक्षण एवं अव्याख्येय तत्वों की व्याख्या की जा सके; उक्त स्थिति मनीषियों के लिए तो सुखकर थी, परन्तु इससे जनता का एक बड़ा भाग अतृप्त एवं

आर्त बना रह गया था। शकराचार्य का ब्रह्म सम्बन्धी चिन्तन इसी शुष्क बौद्धिक विवेचन का उदाहरण है जिसमे प्राकृतजन के लिए कहीं कोई स्थान नहीं था। परिणामस्वरूप इस रिक्तता की पूर्ति हेतु शकर के विपरीत रामानुज ने एक ऐसी परमसत्ता का प्रतिपादन किया जो न केवल सृष्टि–चक्र की पहेलियो को सुलझाकर लोगो को बौद्धिक सन्तोष दे सके, वरन् अशक्त दीन–दुखियो की करुण पुकार सुनकर उन्हें भयावह सासारिक यातनाओ से भी उबार सके। इसीलिए रामानुज ब्रह्म, नारायण अथवा विष्णु के ऐसे स्वरूप का निरूपण करते है जो हमारे आस–पास ही किसी महान प्रभावशाली सत्ता से मिलता जुलता है। बस अन्तर इतना ही है कि सासारिक महनीय व्यक्तियो से परे रामानुज के ईश्वर का दिव्य विग्रह विशुद्ध सत्व से निर्मित है। रामानुज के पुरूषोत्म नारायण तपे हुये स्वर्ण से निर्मित पर्वतराज के समान शोभा युक्त हैं। उनसे सैकडो सूर्यो के समान सहस्रो किरणे निकलती है। गहरे जल मे उत्पन्न सुदृढ नालदण्ड युक्त और सूर्य रश्मि विकसित कमल के सदृश सुन्दर और विशाल उनकी ऑखे है। वे सुन्दर भ्रूललाट से युक्त तथा शोभन नासिका वाले, वे सुन्दर हासयुक्त तथा मूगे के समान लाल अधरों वाले हैं। उनके कोमल कपोल दिव्य कान्तिमान है, कठ शख के समान है उन्नत स्कन्धो पर दिव्य कर्णपाश लटक रहे है उनकी भुजाए मोटी वर्तुलाकार और लम्बी है। वे मनोहर लाल करतल और अगुलियो से युक्त है। वे क्षीण कटिवाले विशाल वक्षस्थल वाले तथा समविभक्त सर्वाग वाले है। वे उचित ढग से संघटित अवयव एव स्निग्ध वर्ण वाले है उनके दोनो चरण खिले हुए कमल के समान सुन्दर है। वे अपने अनुरूप पीत वस्त्र को धारण करते है। वे निर्मल किरीट, कुण्डल, हार, केयूर, कटक, नूपुर और उदरबन्धन इत्यादि अनन्त दिव्य आभूषणो से भूषित हैं। वे शख, चक्र, गदा, खड्ग और धनुष तथा वनमाला से अलकृत हैं। वे अपार उत्कर्ष युक्त सौदर्य से सबकी मनोवृत्ति तथा दृष्टि को आकर्षित कर लेते है। वे लावण्यामृत से समस्त प्राणिमात्र को आप्लावित करते रहते हैं उनका यौवन अत्यंत अद्भुत अचित्य और नित्य है। वे पुष्पहास सुकुमार हैं। वे अपनी दिव्यगंध से अनन्त दिगन्तराल को सुवासित करते हैं। वे आक्रमण करने में प्रवृत्त व्यक्ति के समान गाम्भीर्य युक्त

है, वे करूणा और अनुराग से परिपूर्ण मधुर लोचनो से आश्रित वर्ग को कटाक्षित करते रहते हैं[3]।

किन्तु रामानुज के इस वर्णन से यह शका होती है कि उनके ईश्वर का यह रूप लौकिक एव सासारिक है, अतएव इसमे अनित्यतत्त्व का आरोप होता है क्योकि जो लौकिक या जागतिक है उसे नित्य या शाश्वत नहीं कहा जाता। किन्तु रामानुज इस बात का निषेध करते हुए परमतत्व के नित्यत्व, शाश्वतत्व का विधान करते हैं। वाक्यकार और द्रमिड भाष्यकार को उद्धृत करते हुए वे कहते है कि ब्रह्म का रूप अतीन्द्रिय और अन्त करण से प्रत्यक्ष है न कि चक्षुरादि इन्द्रियो से। पुन. वे कहते है कि 'अन्तस्तधर्मोपदेशात्' इस सूत्र में ब्रह्म का रूप स्वाभाविक है और वह नेत्रो से ग्राह्य न होकर निष्कलुष मन द्वारा ही ग्राह्य है। अतएव विशुद्ध सत्व से निर्मित ब्रह्म नित्य एव अप्राकृत है, ऐसा निश्चित होता है।

रामानुज ब्रह्म की सगुणता का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर और ब्रह्म एक ही है। ईश्वर सविशेष सगुण है तथा चिद्‌चिद्‌विशिष्ट है। ये ईश्वर सृष्टि के अभिन्न निमित्तोपादान कारण एव चिद्‌चिद्‌रूप विश्व के अन्तर्यामी आत्मा है और यह विश्व उनका शरीर। वे परात्परा है और उनमे व्यक्तित्व की पूर्णता है। चूकि 'अपहत्पामत्विजरो विमृत्यु विशोको विजिघत्सो पिपास· सत्य कामः सत्य संकल्प', 'य सर्वज्ञ सर्व विद्यस्य ज्ञानमय तप' इत्यदि श्रुतियॉ ब्रह्म की सगुणता का विधान करती है, अतएव रामानुज सगुण ब्रह्म को मान्यता देते है। जहॉ तक उपनिषदों की निर्गुण, निर्विशेष श्रुतियो का प्रश्न है, वे वस्तुत ब्रह्म को निर्गुण नहीं बतलातीं अपितु समस्त जागतिक हेयगुणरहितता का प्रतिपादन करती है इस तरह श्रुति विरोध नही होता। ईश्वर अशेष कल्याण गुण सागर और हेयगुणरहित हैं। वे नारायण या वासुदेव हैं। लक्ष्मी उनकी पत्नी हैं। शुद्ध सत्व निर्मित वैकुण्ठ उनका निवास है। वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और करूणा सागर है। उनके दिव्यगुण, नित्य, शुद्ध और अनन्त है। उनका ज्ञान आनन्द, प्रेम, ऐश्वर्य, बल, शक्ति, कृपा आदि अपार है। ब्रह्म की इस सगुणता का अभिप्राय

श्रुतियो मे वर्णित उसके सर्वविलक्षणत्व और सत्यकामत्व से है। इसी प्रकार रामानुज ज्ञान मात्र या आनन्द मात्र को ही ब्रह्म का स्वरूप बताते है। श्रुतियो के माध्यम से वे कहते है कि समस्त हेयगुणो से रहित आनन्द रूप ज्ञान ही परम ब्रह्म का स्वरूप–निरूपक धर्म है। इस दृष्टिकोण से ब्रह्म, ज्ञान रूप गुण का आश्रय सिद्ध होता है। परन्तु ब्रह्म मे यह ज्ञातृत्व मान लेने से, चूँकि ज्ञातृत्व विकारात्मक होता है, ब्रह्म की सत्ता भी परिणामी और विकासप्रद हो सकता है और परिणामी ब्रह्म तो संभवत रामानुज भी स्वीकार नहीं करेगे। इसका समाधान करते हुए रामानुज कहते है कि जिस प्रकार मणि आदि का प्रभाश्रयत्व स्वभाविक है उसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञानाश्रयत्व स्वत सिद्ध है क्योकि वे ज्ञातृत्च का अभिप्राय ज्ञान–गुणाश्रयत्त्व से लेते है[4]।

विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन :-

रामानुज के पूर्व शकर ने अद्वैत–मत की प्रतिष्ठा की थी तथा ब्रह्म के अतिरिक्त सभी वस्तुओ को मिथ्या मान लिया था। फलत लोक मे जीवन से पराङमुखता तथा उदासीनता होने लगी थी। रामानुज ने जगत और जीव की असत्ता का खण्डन किया तथा ब्रह्म के साथ इन्हें भी औपबन्धिक मान्यता दी। रामानुज के अनुसार द्वैत रहित अद्वैत और अद्वैत–शून्य द्वैत दोनो ही कोरी कल्पनायें है, क्योंकि भेद के बिना अभेद और अभेद के बिना भेद सिद्ध नहीं होता। अत· दोनो सदा साथ रहते है और इनमे पार्थक्य संभव नहीं है। तत्व सदा द्वैत विशिष्ट अद्वैत होता है। अद्वैत मुख्य है और द्वैत गौण। अद्वैत और द्वैत मे अपृथकसिद्धि सम्बन्ध है तथा दोनो को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। यहॉ द्वैत अद्वैत पर आश्रित रहता है। अद्वैत आत्मरूप है, द्रव्य है, अगी है जबकि द्वैत शरीर रूप है, गुण है अग हैं। शंकर के विपरीत रामानुज ब्रह्म मे स्वगत भेद स्वीकार करते है जबकि शंकर ब्रह्म को पूर्णतया भेद रहित मानते हैं। हालांकि ब्रह्म के साथ–साथ चित् और अचित् भी नित्य व स्वतन्त्र है किन्तु इनकी सत्ता में अन्तर यह है कि ब्रह्म कर्तु–अकर्तु अन्यथा कर्तु मे समर्थ है।

वह ब्रह्म सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है जबकि जीव और प्रकृति ब्रह्माधीन है[5]।

रामानुज का ब्रह्म सर्वव्यापक एव सर्वश्रेष्ठ होने के कारण 'भूमा' कहा गया है। इसके लिए प्रयुक्त 'विभु' शब्द इसकी इसी सर्वव्यापकता या देशकालवस्तुमर्यादाराहित्य को द्योतित करता है। चूकि ब्रह्म के शरीर के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता ही नहीं है अतएव देह दृष्टि से भी ब्रह्म की सर्वव्यापकता मानी जा सकती है। चिद्चिद्रूप शरीर वाला होने के कारण ब्रह्म समस्त प्रपच का अभिन्न निमित्तोपादन कारण सिद्ध होता है। दार्शनिक समुदाय यह शका जाहिर करता है कि कार्य रूप मे परिणत होने वाली वस्तु ही उपादान कारण हो सकती है और इस प्रकार यदि ब्रह्म ही जगत के रूप मे परिणत होता है तो वह निर्विकार और निर्दोष कैसे(?) जबकि श्रुतियॉ ब्रह्म की निर्विकारता और दोष–राहित्य का प्रतिपादन करती है। इस शंका का समाधन करते हुए भाष्यकार 'प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इस सूत्र के द्वारा ब्रह्म की उपादान कारणता सिद्ध करते है। उनके अनुसार औपनिषदिक सदर्भो मे उपादान कारण उसे कहते है जिसमे उस एक के जान लिये जाने से शेष अन्य सभी सहज ही जान लिये जाते है। 'छान्दोग्योपनिषद्' मे मृत्तिका और उसके कार्य के उदाहरण से जिस प्रकार घटादि, समस्त कार्यो को जान लिये जाने का उदाहरण मिलता है, उसी प्रकार रामानुज ब्रह्मज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण जीव–जगत का ज्ञान प्राप्त कर लेने का दावा करते है। यहॉ एक प्रश्न और उठता है कि उपादान कारणता और निर्विकारता के परस्पर विरूद्ध धर्म होने के कारण ये दोनो एक साथ ब्रह्म मे कैसे रह सकते हैं? समाधान प्रस्तुत करते हुए रामानुज बताते है कि ब्रह्म साक्षात् जगत का उपादान कारण नही है अपितु जीव प्रकृति के द्वारा जगत का उपादान कारण होता है।

ब्रह्म के साथ चिद्चिद्रूप जीव जगत की नित्य सत्ता तो श्रुति सिद्ध है। इसे न मानने पर 'नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्चताभ्य' इस सूत्र से विरोध उत्पन्न होगा जो अवांछनीय होगा, इसीलिये ब्रह्म में निर्विकारता एवं उपादान कारणता दोनों सिद्ध हो जाती है। रामानुज के

अनुसार ब्रह्म से ही चिद्चिद्रूप जगत की उत्पत्ति, स्थिति एव लय होती है। इस पर प्रश्न उठता है कि जब जीव और प्रकृति भी ब्रह्म के समान ही नित्य है तो उनकी उत्पत्ति और लय कैसे? रामानुज इसी समस्या के समाधानार्थ ब्रह्म के दो रूपों की कल्पना करते है –

(i) कारण ब्रह्म :- जब ब्रह्म जीव और जड जगत के नामरूप विभाग मे अनर्ह सूक्ष्मदशापन्न शरीर के साथ रहता है तो वह कारण ब्रह्म या ब्रह्म की कारणावस्था कहताली है[6]।

(ii) कार्य ब्रह्म :- जब जीव और जगत की साधारण व्यक्त अवस्था रूपी देह से ब्रह्म युक्त रहता है तो वह ब्रह्म की कार्यावस्था है। सृष्टि के समय चिद्चित् स्थूल रूप धारण कर लेते हैं यही ब्रह्म की कार्यावस्था है। इस अवस्था में स्थित ब्रह्म को कार्य ब्रह्म कहा जाता है। रामानुज, ईश्वर को जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते है, चित् या जीव एव अचित् या जडतत्व दोनो नित्य होने के कारण उत्पत्ति विनाशरहित है। अत सृष्टि का तात्पर्य इनके स्थूल रूप धारण करने से है तथा प्रलय का तात्पर्य इनके सूक्ष्मरूप मे चले जाने से है अर्थात् जीव और प्रकृति के नित्य होने पर भी अवस्था–भेद से उनकी उत्पत्ति स्थिति और सहृति का व्यवहार होता है। रामानुज अजन्मा तो केवल ब्रह्म को मानते है उसके अतिरिक्त और सभी जागतिक उपादान तो उत्पन्न ही होते है।

यहॉ ब्रह्म के इन दो रूपो का प्रतिपादन शंकर द्वारा व्याख्यात ब्रह्म और ईश्वर की सत्ता के समान है। अद्वैत वेदान्तियो ने अपने दर्शन की सगतता एव सगुण प्रतिपादक श्रुतियो की सार्थकता की दृष्टि से निर्गुण निरपेक्ष ब्रह्म के अतिरिक्त मायावच्छिन्न ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का प्रतिपादन किया तो वही रामानुज ने भी इहलौकिकता एवं पारलौकिकता में सामन्जस्य स्थापित करने के लिए ब्रह्म के इन दो स्वरूपो का प्रतिपादन किया। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि जहॉ शकर का ईश्वर मायोपाधिक एव सर्वज्ञत्वादि गुण से युक्त है, केवल ब्रह्म ही निर्गुण निरपेक्ष है, वही। रामानुज का ब्रह्म दोनो अवस्थाओ मे सगुण एव चिद्चित्विशिष्ट ही रहता है।

श्रुतियॉ एव औपनिषद्कि चितन इस सत्य से, कि ब्रह्म जीवो के शुभाशुभ कर्मो के आधार पर उन्हे विभिन्न योनियो मे उत्पन्न करता है, पृथक एक अन्य सत्य का बोध कराते हैं कि वस्तुत ईश्वर जिसे उन्नतलोक में ले जाना चाहते है, उससे सत्कर्म एव जिसे अधम लोक मे ले जाना चाहते है उससे दुष्कर्म कराते है। 'कौषीतकि उपनिषद्' मे कहा गया है–"एष एव साधु कर्म कारयति तम् यमेभ्यो लोकेभ्यो उन्निनिशति एष एवासाधुकर्म कारयति तम् यमधोनिशति"। किन्तु ऐसी स्थिति मे तो मानव किसी भी उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है एव ईश्वर ही वैषम्य तथा निर्दयता आदि दोष से युक्त सिद्ध होता है और यह तथ्य सुसगत नहीं लगता। इस स्थिति का समाधान करते हुए आचार्य रामानुज कहते है कि ईश्वर समस्त जीवो को ज्ञान, इच्छा प्रयत्न रूप गुणो की शक्ति समान रूप से दे चुके है। अत. जीव समस्त कर्मो हेतु स्वय उत्तरदायी है। जीव की प्रथम वृति में परमात्मा कर्माकर्म करने वाले जीव को देखता हुआ उदासीन रहता है किन्तु द्वितीय वृति मे प्रवृति–शैथिल्य का परिहार करके उसे फल पर्यन्त पहुचाता है। यही ईश्वर अन्तर्यामी भाव से जीव को शक्ति देकर महज उसका नियमन करता है न कि उसे कार्यो मे प्रवृत्त करता है। साथ ही उचित अनुचित कर्म कराने का निर्णय ब्रह्म का सामान्यपरक निर्णय नहीं अपितु विशेषपरक निर्णय है। तात्पर्य यह कि जो ईश्वर के अनुकूल रहता है, ईश्वर उससे शुभ कर्म तथा जो उसके प्रतिकूल रहता है, अशुभ कर्म कराते है। गीता मे भी इसी अर्थ की पुष्टि की गयी है[7]। इससे ईश्वर की दयालुता सिद्ध होती है साथ ही ईश्वर की दयालुता मे यह तथ्य भी प्रमाण है। कि वे पाप मे लिप्त जनो के भी शरण मे आने पर उनके पूर्व कर्मो का विचार किये बिना ही उन जीवो के कल्याण मे प्रवृत्त होते है।

<u>ब्रह्म और जगत :-</u>

रामानुज के विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ब्रह्म और जगत के संदर्भ पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। जगत को ईश्वर का शरीर तथा ब्रह्म को जगत की आत्मा मानते हुए रामानुज

ब्रह्म की चिदचित्विशिष्टता एव सगुणता का व्याख्यान करते है। संक्षेप में रामानुज ने ईश्वर और जगत मे निम्नलिखित सम्बन्धो की कल्पना की है –

(i) **आधाराद्येय भाव सम्बन्ध :-**

जीव और प्रकृति जब अव्यक्त ब्रह्म मे सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते हैं तो उस समय ब्रह्म और जीव जगत के मध्य क्रमश आधार एव आधेय का सम्बन्ध होता है। अव्यक्त या कारण ब्रह्म आधार होता है और जीव तथा जगत उस पर आधारित सत्ता। पुराणो मे भी इस बात की पुष्टि की गयी है। 'विष्णुपुराण' मे कहा गया है –

"प्रकृतिर्याभयाख्याता व्यक्ताव्यक्त स्वरूपिणी।

पुरुषस्चापिभावेतरू लीयते परमात्मनि।।

परमात्मा च सर्वेसषाम् आधार परमेश्वर ।

विष्णुनामा सवेदेषु वेदान्तेषु व गीयते।।

(विष्णुपुराण – 6/4/39-40)

(ii) **शरीर शरीरी भाव सम्बन्ध :-**

इस सम्बन्ध के अन्तर्गत रामानुज ईश्वर की, जीव–जगत को देह, तथा ईश्वर को जीव जगत की आत्मा मानते है। श्रुतियो एवं औपनिषदिक् विवेचनो के आधार पर रामानुज यह प्रतिपादित करते हैं कि जिस प्रकार शारीरिक विकारो या त्रुटियो से आत्मा कभी प्रभावित नहीं होता उसी प्रकार जीव या जगत के विचारों से उसकी आत्मा के रूप मे सतत् विद्यमान ईश्वर भी कभी प्रभावित नहीं होता है।
[redacted] ।

(iii) **नियाम्य-नियामक भाव सम्बन्ध :-**

इस सम्बन्ध के अन्तर्गत रामानुज जीव या जगत को नियाम्य एवं ईश्वर को

उसका नियामक मानते है। जिस प्रकार आत्मा देह मे रहकर, देह का नियन्त्रण करता है, उसी प्रकार अन्तर्यामी भाव से जीव और जगत मे बसता हुआ ब्रह्म इनका नियन्त्रण करता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' मे वर्णित निम्न पदावली इसी तथ्य को प्रमाणित करती है –

"य पृथ्वीव्या तिष्ठन् पृथिव्या अन्तर यम् पृथिवि

न वेद यस्य पृथिवि शरीर य पृथिविमन्तरो यमयति"।

रामानुज ब्रह्म की अनन्तता सिद्ध करने के द्वारा यह प्रमाणित कर देते है कि ब्रह्म किसी भी व्यक्ति विशेष के अन्दर निवास करता है। अतएव कोई भी व्यक्ति प्रह्लाद की तरह कह सकता है कि ब्रह्म मेरे अह भाव का निर्माता है, अतएव सब कुछ मुझसे निकला हुआ है, मै ही सब कुछ हूँ, मुझ सनातन ही अन्दर सब कुछ है–

"सर्वगतत्वानन्तस्य स· एवाहम् अवस्थित ।

मतत सर्वगमह सर्वम् मयि सर्वम् सनातने"।

(विष्णुपुराण–1/1/31)

<u>प्रकार–प्रकारी भाव:–</u>

इस सम्बन्ध को विशेषण विशेष्य सम्बन्ध भी कहा गया है। सभी अवस्थाओ में चिद्चित् जीव जगत के, ब्रह्म के शरीर होनें के कारण ये दोनो प्रकार कहे गये है। और ब्रह्म ही कार्य व कारण अवस्था मे जीव–जगद्रूप से अवस्थित होने के कारण प्रकारी कहा गया है। प्रकार–प्रकारी भाव और विशेषण–विशेष्य भाव सम्बन्ध मे अन्तर यह है कि प्रकार–प्रकारी भाव सम्बन्ध नित्य होने के साथ–साथ नित्यवस्तुओ के ही मध्य होता हैं जबकि विशेषण–विशेष्य भाव नित्य और अनित्य दोनों मे सामान्यतया व्यवहृत होता है।

अंशाशि-भाव सम्बनध :-

यहॉ अंश का तात्पर्य विशिष्ट के एकदेश से है और अशी का विशिष्ट से। आचार्य रामानुज का अभिप्राय यहॉ यह है कि जिस प्रकार अग्नि आदि का प्रकाश उनका ही अश होता है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म का अश है। ब्रह्म अशी होते हुए भी अश रूप नहीं है अपितु अश रूप जीव से अभिन्न है। चूँकि ब्रह्म और जीव मे भिन्नता है इसलिए ब्रह्म अपने अशगत दोषो से कभी युक्त नहीं होता।

शेष-शेषी भाव सम्बन्ध :-

रामानुज ईश्वर तथा ब्रह्म को शेषी स्वीकार करते है और उससे भिन्न सभी जड चेतन पदार्थो को शेष की कोटि मे रखते है। रामानुज के मतानुसार जिसकी महत्ता ज्ञापित करनी हो वह शेषी तथा जिसके द्वारा वह महत्ता ज्ञापित की जाय वह शेष होता है। ईश्वर को लीलारस और भोगरस पहुँचाने की इच्छा से ही लीला–विभूति और भोग–विभूति मे रहने वाले नित्य और अनित्य सभी जड चेतन–पदार्थ ईश्वर के लिए उपादेय होते है यह उपादेयता ही इन पदार्थो का स्वरूप है अतएव जड चेतन पदार्थ शेष और ईश्वर शेषी कहे जाते हैं।

आचार्य रामानुज ने अपने विशिष्टाद्वैत दर्शन मे अपनी विचार–धारा के प्रतिपादन के साथ–साथ अन्य विचार धाराओ की अप्रासगिकता सिद्ध करते हुए उनका खण्डन किया है। लोक एवं परलोक मे सामञ्जस्य स्थापित करने की इच्छा से रामानुज सभी प्रकार की एकागी दृष्टियो तथा बहवागिता का आडम्बर करने वाले विरोधाभासो का तिरस्कार करते है। इस क्रम मे वे सबसे पहले शकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अभेदवाद का खण्डन करते है।

अभेदवाद का खण्डन :-

शंकर के अभेदवाद का खण्डन करते हुए रामानुज भेदवादी की भूमिका में दिखते हैं। वे ब्रह्म से इस चिद्चिद्रूप प्रपच को भिन्न मानते हैं। 'मुण्डकोपनिषद्' का प्रमाण देते हुए

वे बताते है –

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानम् वृक्ष परिषष्वजाते।

तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।"

यहाँ स्पष्टतया जीवात्मा एव परमात्मा का भेद बताया गया है – 'ऋत पिबन्तौ सुकृतस्य लोके ।' आदि श्रुतियाँ और 'अविद्याकर्म सज्ञान्या तृतीया शक्तरिष्यते' इत्यादि स्मृतियाँ ब्रह्म और चिद्चित्जगत मे भेद ज्ञापित करते है। पौराणिक आख्यानो मे भी ईश्वर की सत्ता को जगत से परे नियामक माना गया है। सामान्य अनुभव मे भी व्यक्ति के कल्याण– विधायन के लिए उससे अलग एक अलग सत्ता का अस्तित्व सिद्ध होता है जो पारलौकिक कृपालु एव सर्वशक्तिमान है। ब्रह्मसूत्रो की व्याख्या के द्वारा भी रामानुज ने भेद का ही प्रतिपादन किया है।

भेदवाद का खण्डन :-

अभेदवाद के खण्डन के साथ ही रामानुज श्रुतियों के माध्यम से ही भेदवाद का भी खण्डन करते है। 'छान्दोग्योपनिषद्' की "सदैव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" और "वाचारम्भणम् विकारोनामधेयम् मृत्येकेत्येवसत्यम्" इत्यादि श्रुतियो का उल्लेख करते हुए वे चिद्चित जगत का ब्रह्म से अनन्यत्व प्रतिपादित करते है। इस भेद और अभेद का सामंजस्य रामानुज जीव को ब्रह्म का अश मानकर करते है[9]। जिस प्रकार सम्पूर्ण और अश मे भेद भी है और अभेद भी उसी प्रकार ब्रह्म और चिद्चित् रूप जगत मे भेद और अभेद दोनो है।

भेदाभेदवाद का खण्डन :-

रामानुज यहीं नहीं रूकते। वे भेदाभेदवाद का भी खण्डन करते हैं। उस समय भेदाभेदवाद की दो व्याख्यायें वर्तमान थी। एक तो आचार्य भाष्कर की जो घटाकाश और

महाकाश की तरह जीव और ब्रह्म में अभेद को तो स्वभाविक और भेद को औपाधिक मानते है। उनके अनुसार ईश्वर तथा जीव जगत मे मोक्ष दशा मे अभेद हो जाता है और ससार दशा मे भेद। उक्त मत का खण्डन करते हुए रामानुज कहते हैं कि ऐसा मानने पर उपाधि के ससर्ग से होने वाले जीवगत समस्त दोष ब्रह्म में भी होने लगेगे और 'अपहत्पापमत्वादि निर्दोष प्रतिपादक श्रुतिया निरर्थक हो जायेगी। अत यह मत मान्य नहीं। दूसरा मत आचार्य यादव प्रकाश का है जो ब्रह्म और जीव में भेद और अभेद दोनों को स्वाभाविक मानते है। किन्तु रामानुज के अनुसार ऐसा मानने पर ब्रह्म के जीव के रूप मे परिणत होने के कारण गुण के सदृश दोष भी ब्रह्म मे स्वाभाविक होने लगेगे जिससे श्रुति–विरोध उत्पन्न हो जायेगा। साथ ही, यह इस आधार पर भी असम्भव है कि एक ही समय मे एक ही स्थान पर किसी पदार्थ की युगपद् सत्ता और असत्ता, भाव और अभाव हास्यास्पद है।

इस प्रकार हम देखते है कि रामानुज केवल भेद, केवल अभेद और भेदाभेद तीनो का खण्डन कर देते है। प्रश्न यह उठता है कि आखिर रामानुज मानते क्या है(?) वस्तुत रामानुज ने इन तीनो के मध्य इस प्रकार समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है जिससे परस्पर अनर्थकारी विवाद न उठ सके। रामानुज के अनुसार इस चिद्चित् जगत के ब्रह्म के शरीर होने के कारण शरीरात्मभाव से अभेद श्रुतियो की, चिद्चित् विशिष्ट एकमात्र ब्रह्म के ही नानारूप से अवस्थित होने के कारण अंशाशि–भाव से भेदाभेद श्रुतियो की संगति होती है। इसी प्रकार भेद श्रुतियाँ भी प्रकृति और जीव की ब्रह्म से स्वरूप एवं स्वभाव विलक्षणता का ही प्रतिपादन करती है[11]। रामानुज की इसी व्याख्या को आधार बनाकर माध्वाचार्य ने रामानुज को भेद–अभेद और भेदाभेद तीनों का समर्थक कहा है।[12]।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार उन्होंने चिदचित् जगत की नित्यता के विवेचन के उपरान्त भी उसे ईश्वराश्रित माना है उससे स्पष्ट होता है कि रामानुज को भेद के स्थान पर अभेद काम्य है। इसी अर्थ के स्पष्टीकरण हेतु वे ईश्वर व जगत

के सबंध को बताते हुए 'अपृथकसिद्ध' शब्द का व्यवहार करते है। पश्चिमी विचारक 'हेगल' के मत से साम्य रखता हुआ रामानुज का यह मत अभेद पर अधिक आग्रह होने के कारण ही 'विशिष्टाद्वैत' नाम से जाना जाता है। जिस प्रकार हेगल अपने चितन को 'Identity in Difference' के नाम से अभिसज्ञात करता है उसी प्रकार भेदो मे अनुस्यूत अभेद का प्रतिपादन करते हुए आचार्य इसे विशिष्टाद्वैत कहते हैं। अभेद के प्रति रामानुज का यही आग्रह उन्हे और 'निम्बाक' को पृथक–पृथक' ला खडा करता है।

रामानुज के समय में भक्ति एक दार्शनिक निकाय के रूप मे स्थापित हो चुकी थी। रामानुज ने प्रपत्ति का विधान करके सामान्य, अशक्त, दरिद्र जाति बहिष्कृत जनो को भी मुक्ति की सजीवनी दे दी थी परन्तु यदि उनका ब्रह्म दर्शन का ब्रह्म ही बनकर रह जाता तो उनके द्वारा व्याख्यापियत प्रपत्ति भी निरर्थक हो जाती। इसीलिए रामानुज ने 'अवतारवाद' का अपना विख्यात सिद्धान्त दिया, जिसके अनुसार ईश्वर समय–समय पर लोक–कल्याणार्थ अवतार लेकर भक्त जनो का उद्धार करते आ रहे हैं। 'गीताभाष्य भूमिका' मे वे स्वय कहते है–

> "स्वयेमेवरूप तत्सजातीय सस्थानम् स्व स्वभावमजहदेव कुर्वषु
>
> तेषु लोकेस्ववतीर्यावर्तीर्य ...गतः परापर
>
> निखिल जन सताप हराणि चेष्टितानि कुर्वन्. ...अनवधिक
>
> दयासौहार्दानुराग गर्भावलोकनालापामृतैर्विश्वमाप्यायन्"।

अर्थात् ईश्वर ने अपनी दया से नानाविधरूप धारण किये किन्तु उसने ईश्वरत्व के स्वरूप को भी अक्षुण्ण रखा। समय–समय पर उसने अवतार धारण किये। केवल पृथ्वी को दुष्टो से रहित करने के विचार से ही नहीं अपितु इसलिए भी कि आर्त्त्, अशक्त एवं दीनहीन प्राणियों को भी संबल मिल सके।

अवतारवाद की व्याख्या करते हुए रामानुज कहते हैं कि ईश्वर एक है किन्तु अपने भक्तो पर अनुग्रह करने के कारण वे स्वय को पॉच रूपो मे प्रकट करते हैं – अन्तर्यामी, पर, व्यूह, विभव, अर्चावतार। चिद्चिद्विशिष्ट विश्व मे 'अन्तर्यामी' आत्मा के रूप मे व्याप्त रहकर उसका नियमन करना ईश्वर का अन्तर्यामी रूप है। उनका दूसरा रूप 'पर' है जिसमे मे परापर नारायण या 'वासुदेव' के रूप मे व्यक्त होते है। उनका तीसरा रूप 'व्यूह' है जिसमे वे 'चतुर्व्यूह' के रूप मे प्रकट होते हैं। ये चार व्यूह है–'वासुदेव' जो रूप परब्रह्म वासुदेव से भिन्न भगवत्तत्व है, 'सकर्षण' जो जीव तत्व या बुद्धि तत्व के नियन्ता है,'प्रद्युम्न' जो मनस्तत्व के नियन्ता हैं तथा 'अनिरूद्ध' जो अहकार तत्व के नियन्ता है। उनका चौथा रूप 'विभव' या 'अवतार' है जिसमे वे 'राम', 'कृष्ण' आदि विभिन्न अवतारो मे अवतरित होते है। उनका पॉचवारूप 'अर्चावतार' है जिसमे वे भक्तो पर असीम कृपा के कारण श्रीरगम्, वेकटाद्रि, हस्तिशैल आदि स्थानों पर मूर्ति रूप से वास करते है। रामानुज के अनुसार विभव की अर्चना से व्यूह की और व्यूह की अर्चना से षाड्गुण्य विग्रहरूप परब्रह्म वासुदेव की प्राप्ति होती है। रामानुज अपने ईश्वर मे गुणाष्ट का प्रकर्ष मानते है। वे है – ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज, सत्सकलत्व और अपहत्पापमत्व। रामानुज ने ये विचार भागवत् सम्प्रदाय से लिये है। अर्थावतार के प्रतिपादन के द्वारा रामानुज ने तत्कालीन समय मे दक्षिण भारत मे प्रचलित और आलवार सतो के प्रिय वेकटाद्रि शिखरो पर विराजित मूर्तियो की उपासना को साक्षात् ईश्वरोपासना का रूप देकर मूर्ति–पूजा को शास्त्रीय आधार प्रदान किया है। इससे स्पष्ट होता है कि रामानुज कोरे ब्रह्मवादी या आदर्शवादी नहीं थे। अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए उन्होने समाज मे प्रचलित मान्यताओ का उचित सम्मान किया एव सम्पूर्ण मानवता को एक नयी दिशा दी। रामानुज का ईश्वर मनीषियो के ब्रह्म से समन्वय करके, जो आश्वासन सांसारिक त्रासदी भोगते हुए क्लान्त जनमानस को देता है, वह समूचे विश्व चिंतन मे बेजोड़ है। संभवतः इसी कारण रामानुज युग प्रवर्तक दार्शनिक ही नहीं, एकउच्चकोटि के भक्त, अन्तत: स्वयं भगवान बन सके।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में जीव :-

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में परमकृपालु श्रीमन्नारायण अर्थात् ब्रह्म के सगुण स्वरूप की विवेचना के उपरान्त चित् अर्थात् जीवात्मा की विवेचना आवश्यक हो जाती है। यह आत्मा ही भक्ति का वह आधार है जिसके द्वारा परमात्मा के सामीप्य को ही मोक्ष कहा जाता है। जीवात्मा को परिभाषित करते हुए रामानुज लिखते है कि –

'आत्मस्वरूप तु देवादि देह विलक्षण ज्ञानेकाकार,

तच्च परमेषतक स्वरूपम्।''

(वेदार्थ संग्रह – पृष्ठ स०–349)

अर्थात् जीवात्मा देवादिदेहों से विलक्षण और ज्ञानमात्र है तथा वह परब्रह्म भगवान के लिए बनी रहने वाली वस्तु है। स्मृतियो मे भी आत्मा को ज्ञानस्वरूप और निर्मल कहा गया है। ध्यातव्य है कि रामानुज के चितन मे ज्ञान, आत्मा का स्वरूप भी है और धर्म भी। रामानुज श्रुतियो की चर्चा करते हुए आत्मा के ब्रह्मशेषत्व का उल्लेख करते है परन्तु यहॉ एक शका उठती है कि ब्रह्म शेषत्व मानने पर आत्मा का स्वातन्त्र्य बाधित होता है और जीव का पारतन्त्र्य ही उसके दु ख का कारण है तो ब्रह्माधीनता जीव का सहज और स्वाभाविक स्वरूप, कैसे हो सकता है? इन शकाओं का समाधान करते हुए आचार्य रामानुज कहते है कि जीव का ब्रह्माधीन स्वरूप तो श्रुति सिद्ध है। वस्तुत. जीव के स्वातन्त्र्य का बोध भी उसके आत्मज्ञान के विपरीत है, क्योकि यह कर्मजन्य है। इसीलिए कर्मजन्य होने के कारण विषयसुख अल्प एव क्षीण होने वाले है। इसके विपरीत उपनिषदो ब्रह्म को आनन्दमय माना गया है अत उसकी अधीनता भी आनन्द का हेतु बनती है। वस्तुत. सुखादि के वस्तुतन्त्र न होने के कारण जीव की परब्रह्मशेषता भी सुख स्वरूप है। 'सर्वपरवशं दुःखं' इत्यादि वाक्यों का भी यही भाव है कि जब चेतन जीव अपने आधार ब्रह्म को छोड़कर उसके अतिरिक्त वस्तुओं का शेष बनता है तभी

वह दु ख का भाजन बनता है। साथ ही किसी की अधीनता या सेवा से अभिप्राय ईश्वर की सेवा है, किसी अन्य की सेवा नही और इस सेवा का विधान तो गीता मे स्वय श्रीकृष्ण ने किया है –

'माम् योऽव्याभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स. गुणान् समतीत्येतानि ब्रह्मभूयाय कल्पते'।।

(गीता – 14/26)

रामानुज के दर्शन मे चित् या चेतन जीव यद्यपि ईश्वर का विशेषण प्रकार या गुण है तथापि वह स्वय चेतन द्रव्य है। जीव एक नहीं अनेक है। वह नित्य, जन्म मरण रहित और अणुरूप है। वह अपने धर्मभूत ज्ञान का आश्रय एव स्वप्रकाश चेतन है। उसे एक साथ ज्ञान स्वरूप व ज्ञानाश्रय कहा जाता है। स्वभाव से वह आनन्दरूप है। अविद्या और कर्म के कारण वह बधन में पडकर जन्म–मरण चक्र में घूमता है। कर्म से उसका सम्बन्ध अनादि है। जीवो मे गुणगत भेद नहीं वरन् केवल मात्रा भेद है। आत्मा स्वप्रकाशक है किन्तु वह पदार्थो को प्रकाशित नही कर सकता। ज्ञान स्वय को और पदार्थो को प्रकाशित करता है। किन्तु अपने लिये नहीं, आत्मा के लिए। ज्ञातृत्व केवल आत्मा का ही स्वरूप है। जीवात्मा का ज्ञान बद्धावस्था मे कर्मो के कारण अवरूद्ध रहता है एव उसका आनन्द भी सीमित रहता है। अत सासारी जीव, अल्पज्ञ और दुःखी होते है। मोक्ष मे कर्मो का आत्यंतिक क्षय होने से जीव का ज्ञान और आनन्द ब्रह्म के समान नित्य, विभु तथा अखण्ड हो जाता है। रामानुज आत्मा की देहादि तथा अन्य सत्ताओ से पृथक सत्ता स्वीकार करते है। इसके सदर्भ मे उन्होने आत्मा के विषय मे प्रचलित विभिन्न वादो का तार्किक निराकरण किया है जो निम्न है –

देहात्मवाद का खण्डन :-

रामानुज देह, वाह्येन्द्रिय, मन, प्राण और केवल ज्ञान से पृथक जीवात्मा की सत्ता

स्वीकार करते है[13]। इस विषय पर रामानुज–वेदान्त के प्रतिष्ठित आचार्य वेदान्त देशिक विधिवत विचार करते है[14]। उनके अनुसार देह को आत्मा मानने पर तीन विकल्प उपस्थित होते हैं। क्या शरीर का प्रत्येक अवयव चेतन है? या उन अवयवो का समुदाय चेतन है? अथवा शरीररूपी अवयवी चेतन है? इसमें प्रथम पक्ष "यह मेरा घर है, यह मेरा वस्त्र है" इत्यादि वाक्यो से उत्पन्न होने वाली भेद–प्रतीति और "यह मेरा शिर है, यह मेरा हाथ है, प्रभृतिवाक्यजन्यभेद प्रतीति के तुल्य होने के कारण नहीं माना जा सकता। द्वितीय विकल्प भी अग्राह्य है क्योकि जिस प्रकार समुदायात्मक रूपवान् और बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य होने से घटादि पदार्थ चेतन नहीं है, उसी प्रकार शरीरावयवों का समुदाय भी चेतन नही है। एवमेव तीसरा विकल्प भी सिद्धान्त–विरोध के कारण स्वीकार्य नहीं है। विशिष्टाद्वैत मत मे अवयवी भूत शरीरी आत्मा नही हो सकता। इसके अतिरिक्त, अवयवो से अवयवी की उत्पत्ति होती हे। अवयवगत गुण ही अवयवी के गुण होते है, इसलिये अवयवी रूप शरीर को आत्मा मानने के पूर्व उसके अवयवो को आत्मा मानना होगा। जिसे स्वीकार करने पर तो प्रथमपक्षगतदूषण की प्रसक्ति होगी। अत निश्चित है कि शरीर आत्मा नहीं है।

<u>बाह्येन्द्रियात्मवाद का खण्डन :-</u>

इसी प्रकार इन्द्रियो के बहुत्व और प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा व्यवस्थित विषय का ही ग्रहण करने के कारण इन्द्रियॉ भी जीवात्मा नहीं हो सकती है। यही नहीं, इनमें से किसी एक को आत्मा मानने पर एतद्विषयक नियामकाभाव के कारण एकेन्द्रियात्मवाद और "इन्द्रियो का समुदाय मैं हूँ" ऐसा अनुभव न होने के कारण समुदायेन्द्रियात्मवाद भी असगत है। इसके अतिरिक्त स्वप्न मे बाह्येन्द्रियो के उपरत हो जाने पर भी मनुष्य द्वारा व्याघ्रादिरूप आत्म–दर्शन से सिद्ध है कि जीवात्मा इन्द्रियों और देहादि से पृथक है; क्योंकि स्वप्नकाल मे जहॉ इन्द्रियॉ व्यापाररहित रहती हैं, वहीं उस समय देह को भी जाग्रद्दशा के भान का और जाग्रद्दशा मे स्वप्न व्याघ्रादि का अस्तित्व नहीं रहता। अतः सिद्ध है कि आत्मा देहेन्द्रिय से पृथक् हैं।

मनसात्मवाद का खण्डन :-

आत्मा मन नहीं है, अपितु मन से भिन्न है, क्योकि आत्माकर्ता है और मन करण है। मन की करणता श्रुति और अनुमान दोनो से सिद्ध है। श्रुति कहती है कि – "मनसा ह्येवानुपश्यति अर्थात् मन से ही (आत्मा) देखता है। मन के कारणरूपत्त्व मे अनुमान यह है कि सुखादि की प्रतीति करणविशेष से उत्पन्न है, क्योंकि वह क्रिया है, जिस प्रकार छेदनादि क्रिया कुठारादि करणो से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार सुखादि प्रतीति को भी करणविशेष से उत्पन्न होना चाहिए। वह करण–विशेष मन ही है। इस प्रकार मन के कारण वह कर्तृरूपआत्मा से भिन्न है। किच, मन की अहकारजन्यता श्रुतिस्मृति से प्रमाणित है। आत्मा अहकार से उत्पन्न नहीं होता है। इससे भी आत्मा की मन से भिन्नता सिद्ध होती है।

प्राणात्मवाद का खण्डन :-

प्राण भी आत्मा नहीं हो सकता क्योकि "मेरा प्राण है" इस प्रतीति से प्राणात्मत्व का खण्डन हो जाता है। इसक अतिरिक्त, जो दोष अनेकावयवसघातरूप शरीर को आत्मा मानने में है, वही दोष वात्ववयवसघातरूप प्राण के भी आत्मा मानने पर होने लगेगा। "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा" का अभिप्राय प्राणात्मत्व मे नहीं अपितु प्राणविशिष्ट प्रज्ञात्मा मे है। अत सिद्ध है कि प्राण से भिन्न आत्मा है।

ज्ञानात्मवाद का खण्डन :-

ज्ञान को आत्मा मानने वाले विद्धानो के दो वर्ग है। पहला वर्ग बौद्धो का है, जो क्षणिकज्ञान को आत्मा मानते है। दूसरा अद्वैत वेदान्तानुयायियो का है, जो स्थिर ज्ञान को आत्मा मानते हैं। विशिष्टाद्वैतवेदान्त मे दोनो मत अभीष्ट नहीं है। बौद्धमत मे जीव के नित्यत्व का व्याघात होता है क्योंकि ज्ञान नश्वर है। ज्ञान की नश्वरता और ज्ञातृधर्मरूपता "मैं जानता हूँ" इत्यादि प्रतीति द्वारा अनुभवसिद्ध है। यही नहीं, क्षणिकज्ञानात्मवाद में कर्मकर्ता आत्मा

और फलभोक्ता आत्मा भिन्न–भिन्न है, क्योकि प्रत्येक ज्ञान एकक्षण रहकर अगले क्षण मे पूर्ण रूपेण नष्ट हो जाते है। कर्मकर्ता और फलभोक्ता रूप आत्मा के पृथक होने के कारण किसी भी कर्म मे प्रवृत्ति ही न हो सकेगी। दोनो के क्षणमात्रास्तित्व क कारण दोनो मे अभेद भी नही माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त "वही मैं हूँ" इत्यादि प्रतिसन्धान द्वारा आत्मा ज्ञाता एव स्थिर सिद्ध होता है। अतः बौद्धो का मत सर्वथा हेय है[16]।

अद्वैत–मतानुयायियो के अनुसार ज्ञान विषय और आश्रय से शून्य है, वह स्थिर अर्थात् नित्य है, तथा वही आत्मा है। अद्वैतियो का यह मत भी समीचीन नहीं है, क्योकि लोक मे जो ज्ञान "अह जानामि" इत्यादि रूपेण अनुभूत होता है, वह विषय और आश्रय से युक्त ही अनुभूत होता है। विषयाश्रय शून्य ज्ञान के अनुभूत न होने के कारण अद्वैतसम्मत ज्ञान अप्रामाणिक है। अत वह अहप्रतीतिविषयक आत्मा नही बन सकता। लोक मे "अह जानामि" इस प्रकार ज्ञातात्वर्थ के रूप मे जो ज्ञान अनुभूत होता है, वह ज्ञातृत्व और स्थिरत्व से रहित है। यह अस्थिर ज्ञान "स एवाहम्" इसका प्रतिसन्धान न कर सकने के कारण आत्मा नही हो सकता। अतएव सिद्ध है कि आत्मा विषयाश्रयशून्य, स्थिर, केवलज्ञान से पृथक है।

इस प्रकार जीवात्मा देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और केवल ज्ञानादि से विलक्षण है। रामानुज के अनुसार जिस प्रकार स्रक्सूत्र सर्वदा अनुवृत्त होता है उसी प्रकार अहमह रूपेण सर्वदा अनुवर्तमान तत्व ही आत्मा है, जो ज्ञाता अर्थात् ज्ञानाश्रय, भोक्ता, स्वय प्रकाश नित्य अनेक और अणुरूप है।

आत्मा की स्वयंप्रकाशिता :-

आत्मा की स्वयप्रकाशिता से तात्पर्य अपने लिये स्वय प्रकाशित होने से है, जिसका स्वरूप "अहमहम्" ऐसा है। इसीलिये जीवात्मा को प्रत्यक् भी कहा जाता है। इस पर शंका उत्पन्न होती है कि क्या प्रत्यक्त्व आत्मस्वरूप है अथवा आत्मा मे विद्यमान कोई धर्म है?

पूर्वपक्षी के अनुसार इन दोनो पक्ष मे दोष है। प्रत्यक्त्व और आत्मा मे अभेद मानने पर दोनो मे विशेष्य विशेषण भाव तथा धर्मधर्मिभाव नहीं हो सकेगा। यदि अभेद मे विशेषण विशेष्य भाव इत्यादि माने जाय तो "भेदव्यपदेशाच्चान्यउभेऽपि हि भेदेनैनमधीयते" इत्यादि ब्रह्मसूत्रो से विरोध उपस्थित होगा। इन सूत्रो की सार्थकता तभी है, जब अभेद–स्थल मे विशेषण विशेष्यभाव न हो, क्योकि ये सूत्र भेदस्थल मे ही विशेषण–विशेष्य भाव इत्यादि का प्रतिपादन करते है। अत सूत्र विरोध से प्रथम–पक्ष अग्राह्य है। प्रत्यक्त्व को आत्मा का धर्म मानने पर तो आत्मा स्वप्रकाश होने से स्वय को ही प्रकाशित कर सकता है, अपने से व्यतिरिक्त प्रत्यक्त्वरूपी धर्म को प्रकाशित नहीं कर सकता है। यदि मान लिया जाय धर्मभूतज्ञान के समान स्वव्यतिरिक्त पदार्थो का प्रकाशक होगा तो धर्मभूतज्ञान के समान आत्मा को भी विषय मानना होगा जो अयुक्त है, क्योकि विषयित्व धर्मभूतज्ञान का और प्रत्यक्त्व आत्मा का असाधारण धर्म है। इस प्रकार दोनो विकल्पो के दूषित होने के कारण निर्वाह कैसे होगा? इस शका का समाधान है कि प्रत्यक्त्व आत्मा का धर्म ही है। प्रत्यक्त्व के प्रकाशन से आत्मा का विषयित्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि विषयित्व का स्वरूप है कि अपने मे अपृथक–सिद्धि सम्बन्ध से रहने वाले धर्मो को छोडकर इतर पदार्थो का प्रकाशक होना। आत्मस्वरूप अपने मे अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध से रहने वाले प्रत्यक्त्वादि को ही प्रकाशित करता है अत· आत्मा का विषयित्व मानना उचित नहीं है।

आत्मा प्रत्यक्त्वादि को प्रकाशित करता हुआ स्वय–प्रकाश है किन्तु इतर प्रमाणो द्वारा जानने योग्य अणुत्व, शेषत्व, नित्यत्व और नियामयत्व इत्यादि धर्मो से विशिष्ट जीवात्मा स्वय नही प्रकाशता है अपितु धर्मभूतज्ञान द्वारा ही नित्यत्वादि–विशिष्टरूप मे जीवात्मा का भान होता है। ऐसी स्थिति मे जीवात्मा ज्ञान का विषय बनकर ही प्रकाशित होता है। इस प्रकार जीवात्मा घटादि का ज्ञाता होने से माता, अणुत्वादिविशिष्टरूप मे ज्ञान का विषय होने से मेय और प्रत्यक्त्वादिविशिष्टरूपेण स्वयं प्रकाशित होने से मान अर्थात् माता मेय और मान तीनो है।

जीवात्मा की स्वय–प्रकाशता श्रुति–स्मृति और अनुमान दोनो प्रकार से सिद्ध है। इसमे श्रुतिप्रमाण है –

"एष हि द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्ता

विज्ञानात्मा पुरुष[17]।

अर्थात् यह पुरुष दर्शन करने वाला, सुनने वाला, रस चखन वाला, गन्ध सूघने वाला, मनन करने वाला समझने वाला, कर्ता एव विज्ञान स्वरूप है।

इस श्रुति मे "विज्ञानात्मा" पद द्वारा आत्मा की ज्ञानरूपता तथा स्वय प्रकाशत्व को कहा गया है। इसी प्रकार "कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमय प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति[18]। (कौन आत्मा है? प्राण अर्थात् इन्द्रियो के बीच रहने वाला तथा हृदय के अन्दर ज्योतिरूप मे विद्यमान ज्ञानमय वस्तु आत्मा है) इत्यादि श्रुतियो से भी जीवात्मा की ज्ञानरूपता अथवा स्वय प्रकाशता सिद्ध होती है।

"अनुमानवाक्यो" आत्मा स्वय प्रकाश है क्योकि वह ज्ञान है, जो ज्ञान होते है, वे स्वय–प्रकाशित होते है, जैसे घटादि का ज्ञान, अत ज्ञान स्वरूप होने से आत्मा भी स्वय प्रकाश है, "इत्यादि के द्वारा जीवात्मा के स्वयप्रकाशत्व की अनुमिति भी होती है।

आत्मा की नित्यता :-

रामानुज के मत मे आत्मा नित्य है, उसका कभी नाश नहीं होता। आत्मा को नित्य न मानने पर अकृताभ्यागम और कृतप्रणाश इत्यादि दोषों की प्रसक्ति होने लगेगी। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा के अनित्य होने पर विद्यमान सभी जीव एक समय नष्ट हो जायेगे और नूतन जीव उत्पन्न होगे। ऐसी स्थिति मे उन नूतन जीवो के पूर्वकर्म न होने पर भी सासारिक सुख दु.ख अवश्य भोगने पडेगें, जो अनुचित है, यही अकृताभ्यागम है। इसके साथ ही साथ विद्यमान जीवों को अपने कर्मो मे से कई कर्मो के फल भोगने के पूर्व ही नष्ट होना पडेगा। कृतकर्मो के फलभोग के पूर्व ही नष्ट होना अनुचित है, इस दोष की उपस्थिति

के कारण आत्मा को अनित्य नहीं माना जा सकता। आत्मा की नित्यता मे "न जायते म्रियते वा कराचित् .... "नित्यो नित्यानाम्, "अविनाशी वारेऽयमात्मा, इत्यादि श्रुतियॉ प्रमाण है। "जीव उत्पन्न होता है" या जीव मरता है, इत्यादि जो प्रयोग लोक मे देखे जाते है, उनका तात्पर्य जीव के प्राकृतदेहादि के संयोग वियोग से है[19]। अतः श्रुति–स्मृत्यादिसमस्त प्रमाणो से सिद्ध है कि आत्मा नित्य है।

अणु–परिमाणी आत्मा :–

रामानुज ने जीवात्मा को अणुपरिमाणवाला माना है, क्योकि "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य" (यह अणुरूप आत्मा मन से जानने योग्य है) "आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट (जीव कर्मकार की सूची के अग्रभाग के समान छोटा देखा गया है) और "बालाग्रश्तभागस्य शतधा कीर्तितत्यच भागे जीव स विज्ञेय स चानन्त्याय कल्पते" (बाल के अग्रभाग को सौ भाग करके उनमे से एक भाग को सौ भाग करने पर, उनमे से एक भाग जितना छोटा होता है उसी के तुल्य जीवात्मा होता है और वही अनन्तता को प्राप्त होता है।) इत्यादि श्रुतियॉ के द्वारा जीव के अणुत्व का ही प्रतिपादन किया गया है। अणुपरिमाणात्मक जीव का निवास स्थान हृत्पद्य है[20]। इस पर शका होती है कि यदि आत्मा अणु है, वह हृत्पद्य मे रहता है, तो शरीर के विभिन्न अगो मे उसका अधिष्ठान कैसे होगा? इसका उत्तर है कि शरीर के अन्य अगो में अणुरूप जीवात्मा का अधिष्ठान धर्मभूतज्ञान, जो प्रयत्नादिरूप में परिणत है, के द्वारा होगा अर्थात् जिस प्रकार एक देश मे रहने वाला रत्न या दीप इत्यादि का आलोक दूर तक फैला हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार हृदयस्थान मे विद्यमान जीवात्मा की ज्ञानप्रभा सम्पूर्ण देह मे व्याप्त रहती है। उस ज्ञानप्रभा के द्वारा ही जीवात्मा शरीर के विभिन्न अंगो पर अधिष्ठान करता है। धर्मभूत–ज्ञान द्वारा ही योगियों का अन्यशरीरों में अधिष्ठान सम्भव है। श्रुति स्मृत्यादि में" नित्य सर्वगत. स्थाणुः[21] "यया क्षेत्रज्ञशक्ति. सा वेष्टिया नृप सर्वगा"[22] इत्यादि

के द्वारा जीवात्मा के सर्वगतत्वादि का व्यपदेश किया गया है। जीवात्मा के अणुपरिमाण मानने पर तो उक्त श्रुति–स्मृत्यादि से विरोध उत्पन्न होगा। इस पूर्वपक्ष की शका समाधान यह है कि उक्त स्थलों पर सर्वगतत्वादि का व्यपदेश जीवात्माओं के समुदाय की अपेक्षा से है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवात्माओं मे से कोई न कोई जीवात्मा सर्वत्र विद्यमान रहता है। अथवा जीवात्मा के सर्वगतत्व से अभिप्राय उसके धर्मभूतज्ञान द्वारा विहित व्यापकता से है। या जीवात्मा के अत्यन्तसूक्ष्म होने के कारण सभी अवचेतनो में उसके प्रवेश की क्षमता का ही बोध सर्वगतत्वादि विशेषणो से होता है। इसी प्रकार श्रुतिविहित उत्क्रान्ति, गति और अगति से आत्मा के विभुत्व का निषेध होता है[23]।

'गीताभाष्य' मे भाष्यकार ने "ब्रह्म बृहत्वगुणयोगि, शरीरार्थान्तरभूत स्वत शरीरादिभि परिच्छेदरहित क्षेत्रज्ञतत्वमित्यर्थ "सचानन्त्याय कलाते" इतिश्रुते। शरीरपरिच्छिन्नत्वचास्य कर्मकृत्कर्म बन्धान्मुक्त स्थानन्त्यम्। (बृहत्वगुणवाला अर्थात सबसे बडा जीवात्मतत्व ब्रह्म कहलाता है। जीवात्मतत्व देह से भिन्न पदार्थ है। वह भले कर्मरूप उपाधि के कारण शरीरादि से परिच्छिन्न हो, किन्तु स्वत शरीरादि से परिच्छिन्न नहीं है, क्योकि "सचानन्त्याय कल्पसे" इस श्रुति से यही सिद्ध है कि कर्म के कारण जीवात्मा शरीर से परिच्छिन्न हो जाता है, कर्मबन्धन से मुक्त होने पर अनन्त बन जाता है।) "लोके यद्वस्तुजात तत्सर्वमावृत्य व्याप्यतिष्ठति परिशुद्धस्वरूपम देहादिपरिच्छेदरहितया सर्वगमित्यर्थः" (लोक मे जितने पदार्थ है, जीवात्मा उन सबको व्याप्त करके रहता है। जीवात्मा का परिशुद्ध स्वरूप देहादिपरिच्छेद के न होने के कारण व्यापक है, ऐसा अर्थ है), "स्वभावतोऽचरं वरंच देहित्वे" (जीवात्मा स्वभावत अचचल है, शरीरधारी होने पर चंचल हो जाता है) इत्यादि के द्वारा जीव के स्वरूप का वर्णन किया है। 'गीताभाष्य' में अन्यत्र भी उन्होंने जीव के अपरिछिन्न और ज्ञानेकस्वरूप कहा है जिससे आपातत जीव के विभुत्व का सन्देह होने लगता है। वस्तुतः उक्त समस्त स्थलो पर भाष्यकार का अभिप्राय स्वरूपतः अणु जीवात्मा के धर्मभूत ज्ञान द्वारा व्यापक हो जाने से है। इस तथ्य

को रामानुज ने 'वेदान्त–दीप' मे जीवात्मा के स्वाभाविक अणुरूप और परमात्मा के स्वाभाविक महत्वरूप के कथन द्वारा स्पष्ट कर दिया है। जीव के विभु मानने पर लोकप्रिय सिद्ध "मै जानता हुआ यही रहता हूँ" इस अनुभव का स्वारस्य नष्ट हो जायेगा। अत सिद्ध है कि जीवात्मा अणु परिमाण वाला ही है।

अनेकात्मवादः–

रामानुज जीवात्मा की अनेकता को स्वीकार करते है। जिसका अभिप्राय प्रत्येक शरीर में भिन्न–भिन्न जीवो से है। उनके अनुसार प्रत्येक शरीरगत जीव के लिये स्मृति अनुभव सुख–दुख, इन्द्रिय और प्रयत्न इत्यादि के व्यवस्थित होने के कारण जीव परस्पर भिन्न व अनेक है। यहॉ पर केवल साभरि आदि योगी ही अपवाद है, जो अकेले ही अनेक शरीरो को धारण करते है। जीव की इसी अनेकता की नैयायिको ने "नानात्मानी व्यवस्थात[24] (सुख–दु ख इत्यादि की व्यवस्था होने से आत्मा अनेक है) इस सूत्र द्वारा स्वीकार किया है। साख्य–मतवलम्बियो द्वारा भी –

जननमरणकरणाना प्रतिनियमादयुगत्प्रवृत्तेश्च।

पुरूषबहुत्व सिद्ध त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।।

(जन्म, मृत्यु और इन्द्रियो की व्यवस्था से, एक साथ प्रवृत्त न होने से, त्रैगुण्य की विषमता के कारण पुरूष की अनेकता सिद्ध है) इत्यादि कारिका के आधार पर जीवात्मा की अनेकता का प्रतिपादन किया गया है।

पूर्वोक्त–विशेषणविशिष्ट–जीव नित्य होता हुआ अपने आधार, नियामक, शरीरी, अशी और प्रकारीभूत ब्रह्म से अपृथक्–सिद्धिसम्बन्ध से नित्य सम्बद्ध है। ब्रह्मव्यतिरिक्त उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। वह अपने द्वारा किये गये पूर्वकर्मो के आधार पर विभिन्न शरीर

प्राप्त करके कर्मजन्यभोगों का भोग करता है। इनके कर्मकृतभोगो की समाप्ति के पश्चात् भी जीव स्थूल–शरीर को छोड़कर सूक्ष्मशरीर के साथ अर्चिरादि मार्ग द्वारा लोकान्तर गमन करता है।

जीवों के प्रकार:-

नित्य जीव:-

रामानुज के मत मे जीव की नित्य, मुक्त और बद्धरूप तीन कोटियॉ मानी गयी है। ईश्वर या ब्रह्म की त्रिपादविभूति मे नित्य विराजमान रहने वाले अनन्त, गरूड और विष्वक्सेन आदि नित्यजीव हैं। नित्य जीवों के वैकुण्ठधाम मे विराजमान रहना इत्यादि विशेषाधिकार ईश्वर की इच्छा से अनादिकाल से ही निर्धारित कर दिये गये है। ये कभी भी ईश्वर–प्रतिकूल आचरण नहीं करते अत ज्ञान का सकोच कभी भी नही होता। नित्य जीव भी कभी–कभी अवतार ग्रहण किया करते हैं किन्तु इनका अवतार कर्माधीन नहीं होता अपितु भगवान के अवतार के समान स्वेच्छा पर आधारित होता है।

मुक्त जीव-

मुक्त जीव वे हैं, जो अनादि काल से संसार में निमग्न रहकर स्वकृतकर्मो के परिपाक का भोग कर रहे थे। किन्तु ईश्वराभिमत कर्मो का अनुष्ठान करते हुये ईश्वरकृपा से शरीरपातवेला मे कर्मसस्कारों का त्याग करते हुये इस लोक को छोडकर अर्चिरादि मार्ग द्वारा विभिन्न स्वागतो से सम्मानित और दिव्यविग्रह युक्त होकर दिव्य वैकुण्ठधाम मे प्रवेश के अनन्तर अपहतपाप्मत्व, विजरत्व, विमृत्युत्व विशोकत्व, विजिघत्सव, अपिपासित्व, सत्यकामत्व और सत्य–संकल्पत्वरूप अष्टगुणों से सम्पन्न होकर अनन्तकाल तक ब्रह्मानुभव प्राप्त करते हुये भगवान की नित्यविभूति मे विद्यमान हैं। इन्हें भी ब्रह्मतुल्य भोगसाम्यता प्राप्त है। किन्तु जगत्–व्यापार के सन्दर्भ मे नहीं। मुक्त–पुरुष भी लोककल्याणार्थ स्वेच्छया शरीरधारण कर

लीला विभूति मे आ सकते है। इनका भी यह अवतार कर्माधीन न होकर स्वेच्छया या फिर ईश्वरेच्छया होता है। मुक्त जीवो का नित्य जीवो से भेद यही है कि ये जीव अनादिकाल से असख्यबार कर्मपरवश होकर जीवनमरणरूप असह्य दुःख का अनुभव करते है, किन्तु अब भगवतकृपा से मुक्ति प्राप्त कर लिये है। जबकि नित्यजीव कभी भी कर्माधीन शरीरग्रहण करके ईश्वर की एकपादविभूति मे नही आये रहते है।

बद्ध जीव :-

ब्रह्म से लेकर कीटपर्यन्त समस्त सम्पूर्ण सृष्टि प्रपंच मे रहने वाले समस्त भूतजात बद्ध जीव हैं। ये अनादिकाल से ससार–सागर मे निमग्न है। स्वप्रारब्धानुसार जन्म–मरण समेत अन्याय असंख्य–यातनाओ को भोगने वाले ये जीव जरायुज अण्डज, स्वेदज और उद्भिज रूपेण चार भागो मे विभक्त किये जा सकते है। देव और मनुष्य जरायुज हैं, इनमें ब्रह्मरूद्र, सनकदि, सीता, द्रौपदी, धृष्टद्युम्नादि, और भूतवेतालप्रभृति अयोनिज है। तिर्यगादि जरायुज, अण्डज और स्वेदज तीनो होते है। वृक्षादिस्थावर उद्भिज् होते है।

बुद्ध जीवों के भेदः-

इन बद्धजीवो को पुन शास्त्रवश्य और शास्त्रावश्यरूप दो कोटियों मे रखा जा सकता है। मनुष्यादि शास्त्रवश्यजीव हैं और पशु, पक्षी तथा वृक्षादि शास्त्रावश्य जीव हैं। शास्त्रवश्यो के बुभुक्षु और मुमुक्षु दो भेद किये जाते हैं। बुभुक्षु जीव धर्मार्थकामपरायण होते है। इनमें धर्मपरायण जीव देवतान्तरभक्त और भगवद्भक्त रूप में द्विधा जाने जाते हैं। भगवद्क्तो के भी आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी ये तीन भेद होते हैं।

इसी प्रकार मुमुक्षु कैवल्यपरायण और मोक्षपरायणरूप से दो प्रकार के होते हैं। मोक्षपरायणजीवों के भक्त और प्रपन्नरूप भेद कहे गये हैं। भक्तों के साधन और साध्यभक्तिनिष्ठ से दो भेद होते है जिनमे व्यासादि साधनभक्तिनिष्ठ माने जाते है और नाथमुनि आदि साध्यभक्ति निष्ठ।

प्रपन्नो के भी धर्मार्थकामाभिलाषी और मोक्षाभिलाषीरूप से दो भेद होते है। इनमे मोक्षाभिलाषी प्रपन्न पुन द्विधा विभक्त किये जा सतके है जिनमे मोक्ष के साथ अन्य फल की चाह करने वाले के "एकान्ती" और मोक्षैकफलवाले को "परमैकान्ती" कहा जाता है। परमैकान्ती प्रपन्न भी दृप्त और आर्त्तरूप भेद से दो प्रकार के होते है। जिनमे प्रारब्ध का भोग तो करना ही पडेगा, ऐसा समझकर कर्म करते हुये शरीरत्याग के समय मोक्ष की प्रतीक्षा करने वाले "दृप्त परमैकान्ती प्रपन्न" हैं और ज्वाला के मध्य में पडे हुये प्राणी के सदृश ससार स्थिति के असह्य होने के कारण तत्काल मोक्ष चाहने वाले "आर्त्त–परमैकान्ती" प्रपन्न है। इस प्रकार जीवों को विभिन्न विभागो–उप विभागो मे विभक्त किया जा सकता है।

जीवात्मा के अस्तित्व को लगभग सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप मे स्वीकार करते हैं। चाहे वह चार्वाक् के अनुसार चैतन्यविशिष्ट शरीर रूप हो या फिर बौद्धमतमान्य विज्ञानप्रवाहरूप। अद्वैत विद्वानो के अनुसार अविद्यावच्छिन्न ब्रह्मरूप हो या जैनियो द्वारा अगीकृत प्रतिशरीर परिमाणरूप। भाट्ट पूर्वमीमासको द्वारा मान्य अंशत. अज्ञानावरणावच्छिन्न चैतन्यरूप हो या फिर न्याय–वैशेषिक द्वारा स्वीक्रियमाण नित्य, विभुएव अचेतन द्रव्यरूप। जो अवस्था विशेष मे चेतन का आधार हो जाता हो अथवा साख्य–योग प्रतिपाद्य नित्य शुद्ध–चैतन्यरूप।

रामानुज दार्शनिक जगत् के बहुत बड़े समन्वयवादी आचार्य है। उन्होंने जीवात्मा के स्वरूप के प्रतिपादन के पूर्व अन्यतन्त्रस्वीकृत मान्यताओ को विधिवत् परखा और अपने सिद्धान्त की निकष पर कसा। उसे पश्चात् जहाँ भी जो कुछ भीसत था, उसे स्वीकार करने मे उन्होने किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं दिखाई। अनेकजीववाद के प्रतिपादन मे तोरामानुज ने साख्य और न्याय के तर्को को यथावत् स्वीकार कर लिया है।

ब्रह्म से पृथक किन्तु "अपृथक–सिद्धि" सम्बन्ध से उससे सम्बन्द्ध जीवात्मा के प्रतिपादन द्वारा रामानुज ने भरपूर प्रयास किया है कि उनके जीव सम्बन्धी विचार को श्रुतियों

का आधार तो मिले ही, उसके साथ ही साथ तर्क और अनुभव का भी अपलाप न हो। इस प्रयास मे रामानुज बहुत हद तक सफल भी हुये है। जीवात्मा की पृथक नित्य–सत्ता के मानने के बावजूद उन्होने प्रभा–प्रभावान् के सदृश ब्रह्मरूप सत्ता के साथ उसके एकत्व पर अधिक बल दिया और इसी परिप्रेक्ष्य मे उन्होंने भेद, अभेद और भेदाभेद मूलक श्रुतियो की व्याख्या भी की।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

(1) आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त तर्त्यवीस्थिता ।

(श्रीभाष्य – 1/1/1)

(2) वेदार्थ–संग्रह, पृ० सं० – 213

(3) वही, पृ० सं० – 323 से 329

(4) मणिपभृतीनां प्रमाश्रयत्वमिव ज्ञानाश्रयत्वमप्यविरूद्धम् ।

(श्रीभाष्य 1/1/1)

(5) तद्व्यतिरिक्तस्य समस्तस्य तदायत्तताम् ।

(वेदार्थ–सग्रह, पृ० स०–218)

(6) नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापन्न प्रकृतिपुरूषशरीर ब्रह्मकारणावस्थम् ।

(7) तेषां सततयुक्ताना भजतां पूर्वकम् ।

ददामिबुद्धियोगं त येन मामुपयान्तिच ।।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तम ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।

(गीता – 10/10-11)

(8) (श्रीभाष्य – 1/1/1)

(9) वही – 2/3/42

(10) वही – 1/1/1

(11) वेदार्थ–सग्रह, पृ० स० – 125

(12) सर्वदर्शनसग्रह, पृ० सं०– 216

(13) देहेन्द्रियमन प्राणधीभ्योऽन्योऽनन्यसाधन ।

नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्र आत्मा भिन्न स्वत सुखी।।

(आत्म–सिद्धि, पृ० स०(श्रीभष्य–1/1/1मे उद्धृत)

(14) न्याय–सिद्धाञ्जन, पृ० स० – 230 से 251 तक।

(15) बृहदारण्यकोपनिषद् – 3/5/3

(16) श्रीभाष्य – 2/2/24

(17) प्रश्नोपनिषद् 4/9

(18) बृहदारण्यकोपनिषद् 6/3/7

(19) श्रीभाष्य – 2/3/18

(20) श्रीभाष्य – 2/3/25/40

(21) गीता – 2/24

(22) विष्णु–पुराण, 3/7/62

(23) श्रीभाष्य – 2/3/20

(24) वैशेषिक–सूत्र, 3/2/20

षष्ठम-अध्याय

विशिष्टाद्वैत- वेदांत में मुक्ति

१- अन्य दर्शनों में मुक्ति का स्वरूप

२- रामानुज की मोक्ष-सम्बन्धी अवधारणा

३- जीवन्मुक्ति का खण्डन

इस विश्व के सम्पूर्ण चिंतन का हेतु जीवन व जगत् का द्वन्द्व है। इस नश्वर जगत् मे प्राणी के सामने अनन्त बाधाये एव विवशताये दिखती हैं। दु खो के झझावात मे जूझता हुआ प्राणी अतत घबराकर मुक्तिकामनया परमसत्ता को पुकार उठता है। प्राणी की, इसी झझावात से उबरने की, नैसर्गिक छटपटाहट, मनीषियो को, इन दु:खो के निदानार्थ सोचने को विवश करती है। विभिन्न, आस्तिक एव नास्तिक, दर्शनो मे इन्हीं दु.खो से मुक्ति के उपाय को 'मोक्ष' की सज्ञा से विभूषित किया गया है।

पौरस्त्य-चितन मे 'ज्ञान' का मुख्य कार्य मुक्ति का विधायन माना गया है -

'सा विद्या या विमुक्तये।'

चाहे जैनो का कैवल्य हो या बौद्धो का निर्वाण, नैयायिको या वैशेषिको की मुक्ति का नकारात्मक चितन हो या वेदातियो की आनदस्वरूप परमगति, योग्य साधको द्वारा आयोजित हठयोग का विधान हो या साख्यो का प्रकृति-पुरुष- पार्थक्य-बोध से उपजा स्वरूपावस्थान, इन सभी के मूल मे भारतीय सस्कृति की प्राणस्वरूप, महाकरूणा का ही स्वर गूँजता है।

इन्हीं दृष्टियों के आलोक मे आचार्य रामानुज के मोक्ष सम्बन्धी विचारो ने स्थान लिया। मुक्ति का यह पथ रामानुज-पूर्व के चितनो मे इतना दुर्गम तथा दुरूह हो उठा था कि सामान्य जनमानस उस पथ की ओर जाने की पात्रता, अपने मे न देख हीन-भावना से भर गया था। यह स्थिति अत्यत घातक थी जो एक ओर तो इन प्राकृत-जनो को सहस्त्रो वृश्चिक दशो की पीडा दे रही थी तथा दूसरी ओर इन्हे विपथगा मनोवृत्ति का शिकार बना रही थी। ऐसे मे, शास्त्रीयता के आडम्बरों से उकताये हुये तथा दीन-हीन इन सामान्यजनो को भक्ति और प्रपत्ति के रूप मे, आचार्यपाद ने सजीवनी दे दी। और, मोक्ष के निमित्त एक नवीन पथ की प्रतिष्ठा कर आचार्य, सम्पूर्ण पौरस्त्य-चितन मे एक क्रांतिद्राष्टा मनीषी तथा युगप्रवर्त्तक नेता बने।

आइये, सम्पूर्ण पौरस्त्य-चितन मे प्रमुख रूप से व्याख्यायित, विभिन्न दर्शनो के मोक्ष-सिद्धान्तों पर पर एक विहंगम दृष्टि डालने के उपरांत, आचार्य रामानुज के मोक्ष-सम्बन्धी विचारो का परिचय प्राप्त करे।

नास्तिक दर्शनों में मोक्ष

चार्वाक और बौद्धमत में मोक्ष : -

भारतीय जीवन–दर्शन में मानव–जीवन के लिये प्राप्यभूत पुरूषार्थ–चतुष्टय मे मोक्ष अन्यतम है। इसी लिये प्रत्येक विचारक ने अन्तिम प्राप्य के रूप मे मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन किसी न किसी रूप मे अवश्य किया है। अवैदिक दर्शनो मे शुद्ध भौतिकवादी चार्वाक के देह के नाश को ही मोक्ष कहा है[1]। जिसका खण्डन देहातिरिक्त आत्मा को सिद्ध कर देने से ही हो जाता है[2]। मोक्ष के विषय मे बौद्धो के मध्य दो मतवाद प्रचलित है, जिनमें एक के अनुसार विषय वासना का आत्यन्तिक विनाश ही मोक्ष है। दूसरे विद्वानो के मत में सविषयकता ही विषयोपराग है, इस विषयोपराग से शून्य होकर चित्सतति का अनुवर्तमान रहना मोक्ष है।[3]

जैन मत में मोक्ष :-

इसी प्रकार जैनियों के यहॉ मोक्ष के सम्बन्ध में कई प्रकार के मतवाद प्रचलित है। कुछ के अनुसार मुक्त जीव सदा ऊपरही ऊपर जाता है। यह नित्य ऊर्ध्वगमन ही मोक्ष है। कुछ दूसरो् के मत में मुक्त जीव सभी लोको के ऊपर विराजमान अर्हत के शरीर मे अनुप्रविष्ट होते है। यह अर्हच्छरीरानुप्रवेश ही मोक्ष है। अन्य विद्वान् वियातानुभव अर्थात् प्रगल्भ अनुभव को ही मोक्ष कहते हैं। उनके मत मे संसार मे जीव को प्राप्त होने वाला अनुभव विषय–सम्बन्ध के कारण प्रगल्भ नही होने पाता है, जिस प्रकार तीव्र वायु से विक्षिप्त दीप चचल रहता है, उसी प्रकार संसार में अनुभव विषय–सम्बन्ध के कारण चंचल रहता है। विषय–सम्बन्ध–शून्य होकर जो अचंचल अनुभव होता है, यही प्रगल्भानुभवरूप मोक्ष है।

आस्तिक दर्शनों में मोक्ष

न्यायमत में मोक्ष :-

इसके बाद आस्तिक दर्शनों मे न्यायशास्त्र के प्रवर्त्तक, आचार्य गौतम दु.ख के आत्यन्यिक उच्छेद को ही मोक्ष मानते है।[5] जिसे न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने प्राप्त जन्म का त्याग और आगामी जन्म का अनुपादान कहा है।[6] नैयायिको के मत मे सम्पूर्ण जगत् दुखानुषक्त है, सुख भी अनित्य होने के कारण विषमिश्रित मधुरान्न की तरह अग्राह्य है। आगमों में वर्णित सुख वस्तुत दु खाभाभावरूप है। लोक मे भी इसी अर्थ मे सुख का प्रयोग देखा जाता है। जैसे–बोझा ढोने वाला व्यक्ति जब सिर पर से बोझा उतार देता है, तो भारवहनरूप दु·ख की निवृत्ति के परिणाम स्वरूप उसे अनुभव होता है कि अब आराम मिल रहा है। इसका तात्पर्य है कि सुख कोई अन्य पदार्थ न होकर दुःखाभावरूप ही है। नैयायिको का यह मत सर्वथा त्याज्य है क्योकि सुख की सत्ता दु ख से भिन्न है। श्रुतियो से सिद्ध है कि ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। अत स्पष्ट है कि आत्यन्तिक दु खाभावरूप मोक्ष श्रुतिप्रतिपाद्य नहीं है।

वैशिषिक मत में मोक्ष :-

वैशेषिको के मत मे ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न,सुख–दु ख और धर्माधर्म इत्यादि विशेषगुणों का आत्यन्तिक विनाश ही मोक्ष माना गया है। उनके अनुसार जीवात्मा मोक्षकाल में सम्पूर्ण विशेषगुणो से शून्य होकर रहता है। ज्ञानादि सम्पूर्ण विशेषगुण अनित्य हैं, अतएव उत्पत्ति –काल के घट अथवा प्रलयकालिक आकाश के सदृश जीवात्मा भी मोक्षकाल मे अनित्य विशेषगुणो से रहित हो जाता है। वैशेषिकों द्वारा अभिमत पूर्वोक्त अनुमान के ही दुष्ट होने के कारण तद्गम्य मोक्ष भी पूर्णतया असिद्ध है। विशिष्टाद्वैत विद्वानों के मत मे उत्पत्ति काल में भी घट रूपादिगुणों से युक्त रहता है क्योंकि रूपादिगुण युक्त मृतिपण्ड ही घटरूप परिणाम को प्राप्त करते समय रूपादिगुण विशिष्ट होकर जाता है। इसी प्रकार प्रलयकाल में आकाश

के तामसांहकार में विलीन हो जाने के कारण आकाश की सत्ता ही नहीं रहती । अत स्पष्ट है कि उक्त उदाहरण में क्रमश साध्यविकलत्व और आश्रयहीनत्वरूप दोष की प्रसक्ति हुई।इस प्रकार वैशेषिकमतमान्य मोक्ष की सत्ता का साधक अनुमान स्वयंमेव निरस्त हो गया। यही नहीं उक्त प्रकारक मोक्ष मानने पर श्रुतिविरोध भी उत्पन्न होगा। श्रुतियो मे "न विज्ञातुर्विज्ञातेविपरिलोपो न विद्यते",। इत्यादि के द्वारा जीवात्मा के ज्ञान का लोप नहीं कहा गया है। इसलिये वैशेषिक–मत–मान्य मोक्ष के साधक अनुमान का भी ब्रह्मानन्दानुभव प्रतिपादक श्रुतियों से भी बाधउत्पन्न होगा। अत तत्प्रतिपादक अनुमान के दुष्ट होने एव श्रुतिविरोध के कारण वैशेषिको की उक्त मोक्ष सम्बन्धी अवधारणा पूर्णतया अग्राह्य है।

<u>अद्वैत–मत में मोक्ष :–</u>

अद्वैत वेदान्त मे जो पारमार्थिक अर्थात्परम अर्थो मे यथार्थ है, कूटस्थ अर्थात् निर्विकार है, नित्य है, आकाश के सामान सर्वव्यापी है, सम्पूर्ण परिर्वतनो मुक्त है, सर्वसन्तोषप्रद (नित्यतृप्त), अवयवहीन, स्वयंप्रकाश स्वरूप है, जिसमे धर्म और अधर्म, भूत भविष्य और वर्तमान का स्थान नहीं है (उस) इसी अलौकिकत्व को मोक्ष कहा गया है।[7] इससे सुस्पष्ट है कि जिस प्रकार मलिनताओ के छूट जाने पर सुवर्ण मे चमक आ जाती है अथवा दिन के तिरोहित हो जाने पर मेघशून्यरात्रि मे तारे प्रकाशित होने लगते है, ठीक उसी प्रकार अविद्या के लुप्त होने पर आत्मा स्वत प्रकाशित होने लगती है

शंकर के अनुसार मुक्ति का स्वरूप ब्रह्म के साथ एकत्व का है। एकत्व का तात्पर्य अनेकत्व के विनाश अथवा तिरोभाव से नहीं, द्वैतभावमुक्त प्रपच के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण से है। यह सम्यक दृष्टिकोण ब्रह्म के प्रति अभेदात्मक होता है। ब्रह्म और जीव–जगत् का यह अभेद तादात्म्यपरक नहीं अपितु भेदभाव के अभावरूप है। मोक्ष के प्रति शकर के इसी दृष्टिकोण को उन्हीं के शब्दों में "मोक्ष उस ब्रहम् के साथ सर्वात्मभाव प्राप्त करना है, जो व्यावहारिक जगत् के समस्त भेदों (धर्मो) से ऊपर उठा है।[8]"

ब्रह्म के साथ अभेदानुभूति तत्वज्ञान द्वारा जीव के जगत्–संबधी मिथ्या विचारो के दूर होने पर संभव होती है। तत्वज्ञान का सूर्योदय जीवन मे किसी भी क्षण हो सकता है, इसके लिये देह की स्थिति कथमपि बाधक नहीं है। तत्तवज्ञान के पश्चात् भी शरीर के विद्यमान होने पर "जीवन्मुक्ति" और तत्त्वज्ञान के साथ ही शरीरपात की स्थिति मे "विदेहमुक्ति" होती है। शकर के अनुसार जिस प्रकार मृत्तिपात्र के निर्माण के बाद भी कुम्हार का चक्र स्वत निरर्थक घूमता रहता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्ति मे भी तत्त्वज्ञान के उदय होने पर शरीर प्रारब्ध कर्मो के क्षयपर्यन्त बना रहता है। क्योंकि पहले से जो गति इसने प्राप्त कर ली है उसे रोकने का कोई कारण उसके अन्दर नहीं होता। लब्धज्ञान जीव जो कुछ शुभाशुभ करता है, वह सब ब्रह्मार्पण बुद्धि से सम्पन्न करता है। अर्थात उनके प्रति उसकी उदासीनता बनी रहती है इस लिये तत्त्वज्ञान के पश्चात् किये गये कर्मो के सस्कार से जीव लिप्त नहीं होता।

रामानुज की मोक्ष–सम्बन्धी अवधारणा

रामानुज जीव की अनादि और नित्य सत्ता स्वीकार करते है। उनके मत मे जीव का ब्रह्म के साथ पूर्ण ऐक्य कभी सम्भव ही नहीं है। क्योकि अविद्या से युक्त जीवात्मा का कालत्रय मे अविद्या से रहित ब्रह्म या परमात्मा से ऐक्य कैसे सम्भव होगा।[9] अपने तर्क को आचार्यपाद विष्णुपुराण में कहे गये भगवान् कृष्ण–द्वैपायन व्यास के कथन द्वारा पुष्ट करते है जिसके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा के भेद को मिथ्या कहा गया है।[10]

इस पर प्रश्न उठता है कि यदि रामानुज जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्यरूप मोक्ष को नहीं स्वीकार करते है तो उनके द्वारा अभिमत मोक्ष का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न को भाष्यकार भगवद्गीता मे भगवान् श्री कृष्ण द्वारा कथित वचन को उद्धृत करते हुये उत्तरित करते है। जिसके अनुसार मोक्ष में जीवात्मा की परमात्मा के साथ सधर्मता कही गयी है।[11] सधर्मता का अभिप्राय जीवात्मा के ब्रह्मनिष्ठ धर्मो से युक्त होने से है, ऐक्य से नहीं।

इस पर पुनः शका होती है कि यदि मोक्ष का स्वरूप जीवब्रह्मैक्य नहीं होगा तो ऐसी स्थिति मे क्या रामानुज अभिमत मोक्ष का 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' एव 'निरजन परम साम्यमुपैति' इत्यादि श्रुतियों मे प्रतिपादित अर्थ से विरोध नहीं होगा। इसका प्रत्याख्यान यह है कि 'ब्रह्मवेद ब्रह्मवैव भवति' इस श्रुति मे मोक्षकालिक ऐक्य का प्रतिपादन नहीं है अपितु मुक्तावस्था में जीव का असकुचित धर्मभूतज्ञानाश्रयत्व कहा गया है। इसी प्रकार 'परम साम्यमुपैति' श्रुति में भी ब्रह्म के साथ जीव की सर्वज्ञत्वेन साम्यता विवक्षित है। रामानुज स्वय श्रीभाष्य मे ज्ञानाकारमात्र मे ब्रह्म से जीव की एकता स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार 'सेयंगो' इस वाक्य में तच्छन्द द्वारा गोत्व जाति से ऐक्य कहा जाता है, गो व्यक्ति स्वरूप से नही। उसी प्रकार 'ब्रह्मैव भवति' इत्यादि स्थलो पर जीव का परमात्मा से ज्ञानमात्राकारतया अभेद विवक्षित है, स्वरूप से नहीं। इस तथ्य को भाष्यकार आकर्षक अयस्कान्तमणि के उदाहरण से और सुस्पष्ट करते हैं।[12] जिसके अनुसार जिस प्रकार अयस्कान्तमणि अपनी आकर्षणशक्ति अपने पास स्थित लौह मे उत्पन्न करती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म भी अपने पास आये हुये भक्तो मे गुणाष्टक से साम्य देता है, स्वरूप से नहीं।

मुक्त–जीव के स्वरूप को आचार्यपाद विष्णु–पुराण के वचन को उदाहृत करते हुये स्पष्ट करते हैं। जिसका अभिप्राय है कि जीव मुक्तावस्था में ब्रह्म के स्वभाव को प्राप्त करके उसके साथ अभेदी हो जाता है। जीव का ब्रह्म से भेद उसके अज्ञान के कारण होता है। रामानुज के अनुसार अभेदी का तात्पर्य भेद रहित से है, तादात्म्य से नही।[13] भाष्यकार का यह अभिप्राय शांकरभाष्य के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य वाचस्पतिमिश्र से सर्वथा मेल खाता है जिन्होने स्वय अभेद का तात्पर्य भेद के अभाव से किया है।[14] रामानुज जीव और ब्रह्म के मध्य भेद को देवादिरूप मानते हैं, जिसका मूल–कारण जीव का अज्ञान है। अज्ञान कर्मरूप ही है, शाकरमत के अनुसार अनिर्वचनीय अज्ञान रूप नहीं। अज्ञान रूप समस्तकमो और तज्जन्य सस्कारों के उच्छेद होने पर जब समस्त देवादि भेद नष्ट हो जाते हैं तो जीवात्मा ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यह स्वरूप–प्राप्ति जीवात्मा द्वारा अपने यथार्थ–स्वरूप

का ग्रहण करना ही है, किसी नवीन आकार की उत्पत्ति रूप नहीं है।[15]

मुक्तात्मा ब्रह्म के अपहतपाप्मत्व इत्यादि आठ गुणो से सम्पन होता है। ये गुण आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। जिस प्रकार ज्योत्स्ना मणि के मल का प्रक्षालन नहीं करती अपितु अपने प्रकाश द्वारा उसको प्रकाशवान करती है, उसी प्रकार कर्मरूप बधन के नष्ट होने पर ब्रह्मसाक्षात्कारानुभव से मुक्त जीवात्मा मे उक्त गुणो का विकास होता है।[16] इस स्थिति मे जीव दिव्याकार, नित्य, निर्दोष, शुभगुणनिधि, उभयविभूतिनाथ, परब्रह्म, पुरूषोत्तम भगवान् श्रीमन्नारायण का पूर्णरूपेण से अनुभव करता हुआ आनन्दित रहता है। जीव की यही स्थिति आचार्यपाद को मोक्ष के रूप मे स्वीकार्य है।

जीवात्मा के मुक्त होने पर उसके सकल्प मात्र से ही समस्त भोग उपस्थित हो जाते हैं। इसमे किसी अन्य प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु ये भोग और ऐश्वर्य परमात्मा के ही आधीन होते है। अप्रतिहत सकल्प के ही कारण मुक्तात्मा को "अनन्याधिपति" या "स्वराट्" कहा जाता है।[17] मुक्तात्मा अपनी इच्छा से पितृलोकादि की सृष्टि परमात्मा की लीला मे स्वयमेव करता है। यही नहीं, जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश से अन्य स्थानो को भी प्रकाशित करता है, ठीक उसी प्रकार मुक्तात्मा भी एक साथ विविध लीलारसास्वादन हेतु अनेक शरीरों में व्यापक बन जाता है। यहॉ पर अनेक शरीरो मे मुक्त जीवात्मा का प्रवेश स्वेच्छया है जबकि बुद्ध—जीव कर्माधीन होकर अनेक शरीरो में प्रवेश करते है।[18]

जीवात्मा के मुक्त हो जाने के पश्चात् कभी उसका इस लोक मे पुनरार्वतन नहीं होता। भगवान् श्री कृष्ण ने स्वय भगवद्गीता मे कहा है कि –

आब्रह्मभुवनाल्लोका· पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। (गीता 8/16)

अर्थात हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक सहित ये सारे लोक नष्ट होने वाले अर्थात् विनाशी है। किन्तु जो मुझे प्राप्त करते हैं, हे कुन्तीपुत्र ! उनका नाम पुर्नजन्म नहीं होता।

यही नहीं, गीता में ''सर्गेऽपिनोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'' ''मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्' नाप्नुवन्ति..'' इत्यादि स्थानों पर और ''स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते''।[19] इत्यादि श्रुतियों में भी विधिना बहुधा प्रतिपादित है कि मुक्तात्मा जन्मादि विकारों से परे होता है।

इन सबके बावजूद मुक्तावस्था में जीवात्मा केवल दो विशिष्टताओं को छोड़कर ब्रह्म की अन्य समस्त पूर्णताओं से सम्पन्न होता है। प्रथम, यह कि जीवात्मा का आकारअणु–परिमाण होता है और परमात्मा विभु सर्वव्यापी है। दूसरा अन्तर यह है कि मुक्तात्मा का जगत् की सृजनात्मक, गतिविधियों के ऊपर कोई अधिकार नहीं है। जीवात्मा को उक्त अधिकार दे देने पर तो श्रुतिविहित ब्रह्म का लक्षण ही अनुपपन्न हो जायेगा। क्योंकि ''यतो वा इमानि भूतानि. ....'' इत्यादि श्रुति के द्वारा ब्रह्म को ही लक्षित किया गया है। लक्षण असाधारण होता है, अतएव जगत् की सृजनात्मक गतिविधियाँ'' केवल परमब्रह्म की ही विशेष शक्ति हैं।[20] इस तथ्य का समर्थन वृत्तिकार भगवान् बोधायन भी करते हैं।

मोक्ष के अवस्थाभेद :-

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में मोक्ष के चार रूप माने गये हैं। पहला सालोक्य अर्थात् ब्रह्म का सतत दर्शन करते रहना। दूसरा सामीप्य अर्थात् परमात्मा के बिल्कुल समीप रहकर तज्जन्य सुख की अनुभूति करना। तीसरा सारूप्य– भगवान् के समान रूप धारण करना और अन्तिम है सायुज्य जिसके अन्तर्गत मुक्तात्मा परमात्मा के सारे भोगों का उपभोग करता हैं।[21] यह मोक्ष की चरमावस्था है, इसमें पूर्ववर्ती तीनों प्रकार के मोक्षों के गुण भी विद्यमान रहते हैं। आचार्य रामानुज को मोक्ष की यही चरमावस्था (सायुज्य) मोक्षरूपेण स्वीकार है।

आचार्य रामानुज परमपद (मोक्ष) के त्रैविध्य का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार कहीं तो प्रकृतिवियुक्तात्मक स्वरूप, जिसका उल्लेख ''सर्गस्थित्यन्तकालेषु.......................... ......।''[22] इत्यादि में हुआ है, और कहीं 'तद्विष्णोः परमंपदम्' इत्यादि श्रुतियों में वर्णित

परमस्थानरूप तथा कहीं 'समस्तहेयगुणरहित विष्ण्वाख्यं परमपदम्'' [23] इत्यादि द्वारा प्रतिपादित भगवत्स्वरूप मोक्ष का त्रिधा वर्णन उपलब्ध होता है।[24]

<u>कैवल्य के मोक्ष का खण्डन :-</u>

मोक्ष के उक्त स्वरूप के अतिरिक्त कुछ आचार्य परिशुद्ध जीवात्मानुभव रूप कैवल्य मोक्ष की सत्ता स्वीकार करते हैं। उक्त आचार्यो के मतानुसार आचार्य रामानुज भी उक्त मोक्ष के अस्तिवत्व को अगीकार करते है। उनके अनुसारभाष्यकार रामानुज ने गीताभाष्य मे "चतुर्विधा॰भजन्ते माम्" इस श्लोक की व्याख्या मे "जिज्ञासु" पद का अर्थ प्रकृति–सम्बन्ध रहित आत्मस्वरूप को प्राप्त करने का इच्छुक साधक के रूप मे किया है।[25] गीताभाष्य के आठवे अध्याय के आरम्भ मे भी सुकृततारतम्य और समझ के आधार पर उपासको के भेदो के मध्य परिशुद्ध– आत्स्वरूप की कामना करने वाले साधको का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार "यदक्षर वेदविदो वदन्ति" इस श्लोक की अवतारिका मे यह कह कर . कि कैवल्यार्थियो के स्मरणप्रकार का वर्णन करते है– उपर्युक्त श्लोक का उल्लेख करके "सर्वद्वाराणि" इत्यादि श्लोक की व्याख्या मे श्रीभाष्यकार कहते हैं कि जो साधक "ओम्" ऐसा उच्चारण एव वाच्य ईश्वर का स्मरण करता हुआ अपने प्राण को शिर मे स्थापित करके शरीरत्याग करता है,उसे परमगति अर्थात् प्रकृतिवियुक्त परिशुद्ध–आत्मस्वरूप, जिसका भगवान के समान आकार है, की प्राप्ति होती है। जिसके अनन्तर उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती।[26] एवमेव गीताभाष्य मे अन्यत्र भी कैवल्यार्थियो की अपुनरवृत्ति का प्रतिपादन भाष्यकार ने किया है।[27]

इसके अन्तर्गत "पुरुष स पर॰" इस श्लोक की अवतारिका मे कैवल्यार्थियों और ज्ञानियो के प्राप्यत्व की भिन्नता व‍ह कर आचार्य रामानुज ने उक्त श्लोक की व्याख्या मे दोनो के लिये समानरूप में प्राप्त होने वाली अर्चिरादि गति का उल्लेख किया है। भाष्यकार के अनुसार पंचाग्निविद्या में "तद्य इत्थं बिदुः" [28] इत्यादि श्रुति के द्वारा परिशुद्धात्मस्वरूपोपासक

के लिये अर्चिरादिगति का विधान किया गया है अन्यथा "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते"[29] इस श्रुति मे सब प्रकार के ब्रह्मविद्यानिष्ठो का उल्लेख हो जाने से पूर्वोक्त श्रुति का पृथक् उपादान ही व्यर्थ हो जायेगा। यहीं नहीं, आचार्यपाद ने "ये त्वक्षरम्" इत्यादि गीता के श्लोक के भाष्य मे स्पष्टरूप से परिशुद्ध जीवात्मोपासक साधको द्वारा भगवाप्राप्ति अर्थात् भगवदाकारारित आत्मस्वरूपप्राप्ति का प्रतिपादन किया है।इस अवस्था मे केवल आत्मानन्द की अनुभूति होने के कारण इसे कैवल्य कहा गया है, यह कैवल्य अर्चिरादिगति से परमपद पहुँचने पर हाता है, वह सदा बना रहता है, उससे पुनरावृत्ति नही होती है। अतएव यह मोक्ष कहलाता है। इसके सम्बन्ध मे दिये गये उपर्युक्त तथ्यों से सुस्पष्ट है कि भाष्यकार को परिशुद्ध जीवात्मानुभवरूप कैवल्य की मोक्षरूपता मान्य है।

किन्तु आचार्य रामानुज के मोक्ष– सम्बन्धी विचारो की सम्यक् पर्यालोचना से ज्ञात होता है कि कैवल्य मोक्ष के सम्बन्ध की उपर्युक्त अवधारणा भाष्यकार के सिद्धान्तो से मेल नहीं खाती। आचार्य रामानुज ने श्रीभाष्य के "वाक्यान्वयाधिकरण" मे स्पष्टरूपेण प्रतिपादित किया है कि परब्रह्म, परमपुरुषोत्तम– श्री भगवान् के विषय मे होने वाला ज्ञान ही मोक्ष साधन है, मोक्ष एकमात्र ब्रह्मज्ञान से ही प्राप्त होता है। इसी अर्थ की पुष्टि "तमेव विद्वानमृत इद्ध भवति नान्य. पन्था विद्यतेऽयनाय"[30] इत्यादि श्रुतियॉ भी करती है। परिशुद्ध जीवात्मज्ञान तो मोक्ष साधनभूत परपुरूषज्ञान का उपकारक है। वह स्वत मोक्षसाधन नहीं बनता।[31] यही नहीं अन्यत्र भी भाष्यकार ने अविद्या के उच्छेद के अनन्तर स्वाभाविकरूप से होने वाले परमात्मा के अनुभव को ही मोक्ष कहा है, तदितरानुभव को नहीं।

ब्रह्मानुभव जीवात्मा का स्वाभाविक रूप है, मोक्ष का पर्यवसान भी स्वाभाविक रूप मे ही होता है। अत भगवदनुभवरूप मोक्ष जीवात्मा की अपनी सहज स्थिति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किन्तु यदि हम कैवल्य को मोक्ष मान लेते हैं तो उस समय पर्यवसित होने वाला जीवात्म स्वरूपानुभव निश्चित ही नित्य संसार से भिन्न होगा।

रामानुज के अनुसार सम्पूर्ण कर्मो से विनिर्मुक्त शुद्धआत्मस्वरूप की प्राप्ति तो भगवत्प्राप्ति के लिये होती है। किन्तु यदि जीवात्मा आत्मस्वरूपमात्र की प्राप्ति हो, भगवत्प्राप्ति नहीं, तो इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा के भगवत्प्राप्ति के बाधक कर्म सस्कार विद्यमान हैं। मोक्ष की स्थिति मे समस्तकर्मसस्कारो से जीवात्मा का विनिर्मुक्त होना आवश्यक है। चूँकि परिशुद्ध जीवात्मानुभवरूप कैवल्य मे भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक कर्मसस्कारो की सत्ता विद्यमान रहती है, इससे सिद्ध है कि कैवल्य मोक्ष नहीं है।

पंचाग्निविद्या प्रकरण की "तद्य इत्थ विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते"[32] इस श्रुति में दो प्रकार के साधको का जो वर्णन पाया जाता है उसका अभिप्राय जीवात्मोपासक और परमात्मोपासक नहीं। अपितु उसका भाव यह है कि साधक स्वात्मशरीरक परमात्मा का उपासक है, दूसरा परमात्मक स्वात्मस्वरूप का उपासक है। अत उक्त श्रुति के आधार पर परिशुद्ध जीवात्मोपासको के अर्चिरादि गति की कल्पना नही करनी चाहिये। "भूमविद्या प्रकरण" मे भाष्यकार ने प्राणशब्दवाच्य परिशुद्ध जीवात्मोपासक की अर्चिरादि गति का निषेध किया है। अत स्पष्ट है अर्चिरादि गति जिनपचाग्निविद्या के साधको की होती है वे केवल जीवात्मोपासक नहीं हैं अपितु वे ब्रह्मात्मक–स्वात्मशरीरक ब्रह्म की साधना करते है।

अब इस पर महत्पूर्ण प्रश्न यह है कि आचार्य रामानुज के ही भाष्य मे अन्तर्विरोध क्यो? एक ओर रामानुज गीताभाष्य मे कैवल्यार्थियो को मुक्त की कोटि में रखते है तो दूसरी ओर गीताभाष्य से इतर श्रीभाष्य आदि ग्रन्थो मे कैवल्यानुभव के मोक्षत्व की अवधारणा का खण्डन करते हैं। रामानुज के इस अन्तर्विरोध का समाधान परवर्ती आचार्य वेदान्तदेशिक बडी ही कुशलता से करते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार मधुविद्यानिष्ठ साधक फलरूप मे आरम्भ मे वस्वादि पद को प्राप्त करके उत्तरकाल मे उससे विरक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त करता है, उसी प्रकार पचाग्निविद्यानिष्ठ साधक भी आरम्भ मे फलरूपेण आत्मानुभव को प्राप्त कर, बाद में उससे विरक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त करता है।

जीवन्मुक्ति का खण्डन :-

आचार्य रामानुज को अद्वैत–मत–सम्मत जीवन्मुक्ति की परिकल्पना सर्वथा अमान्य है। उनके अनुसार यदि शरीर से विशिष्ट ही जीवन्मुक्ति मानी जाय तो यह मान्यता निश्चित ही "मेरी माता बन्ध्या है" के सदृश अप्रमाण एव असगत है।[33] आत्मा के शरीरी होने पर उसका मुक्ति से वैशिष्ट्य और मुक्ति से विशिष्ट होने पर उसका शरीर से वैशिष्ट्य परस्पर विरोधी है। एक ही काल में एक आत्मा में परस्पर विरूद्ध धर्मो का आश्रयणसम्भव नहीं है। यही नहीं, आत्मा के बन्धन का स्वरूप सशरीरत्व और मोक्ष का स्वरूप अशरीरत्व अद्वैतमत में भी मान्य है। इसलिये अशरीरत्व रूप मोक्ष शरीरत्वविशिष्ट आत्मा का कैसे सम्भव है ?

रामानुज के अनुसार "तस्य तावदेव चिर यावन्नविमोक्ष्ये, अथ सर्पस्ये।"[34] (उसकी मुक्ति मे तभी तक विलम्ब है, जब तक देह से छुटकारा नहीं होता) इत्यादि श्रुतियॉ देहपात के अनन्तर ही मोक्ष का विधान करती है। अत जीवन्मुक्ति की शाकर– अवधारणा श्रुतिविरोध के कारण स्वत. निराकृत हो जाती है। रामानुज अपने पक्ष को और अधिक पुष्ट करने के लिए आपस्तम्ब का भी उदाहरण देते है जिसके अनुसार केवल आत्मज्ञान से मोक्ष प्राप्ति को शास्त्रविरूद्ध कहा गया है। आपस्तम्ब के मत मे यदि ज्ञानमात्र से इस शरीर मे ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव होती है तो वाक्यार्थज्ञानियो को दु ख नहीं होता। किन्तु चूॅकि दु.खराहित्य नहीं देखा जाता अतएव सिद्ध है कि इस शरीर में मोक्ष नहीं होता।[35]

इस प्रकार रामानुज–प्रतिपाद्य मोक्ष–सिद्धान्त पर सम्यरूपेण विचार करने पर स्पष्ट होता है कि मोक्ष के सम्बन्ध मे रामानुज का मत का कई दृष्टियो मे शकराचार्य के मत से भिन्न है। सर्वप्रथम तो रामानुज के मोक्ष की उपलब्धि साधक को उसके देहपात के अनन्तर होती है जब कि शकर के अनुसार साधक को कभी भी ज्ञान–भास्कर के उदित होने के कारण अज्ञान तिमिर के नष्ट हो जाने पर मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है शंकर की मुक्ति हेतु वर्तमान शरीर के विनष्टता की अनिवार्यता है। किन्तु रामानुजीय मोक्ष की अवाप्ति के लिय शरीर का

नष्ट होना अनिवार्य है। रामानुज के अनुसार मोक्ष का स्वरूप ब्रह्म के साथ गुणो का साम्य अथवा समता है, तद्रूपता नहीं। किन्तु शंकर इसके विपरीत जीवब्रह्मैक्य को ही मोक्ष मानते है। उनके अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी प्रकार की अन्य सत्ता के न होने के कारण परमार्थत. जीव ब्रह्म ही है, जिसका यथार्थ अनुभव होना ही मोक्ष है। इसके अतिरिक्त रामानुज मोक्ष की प्राप्ति भक्ति और प्रपत्ति दोनो के द्वारा मानते हैं किन्तु शकर ज्ञान मात्र से मोक्ष–प्राप्ति का विधान करते है। इन सब विभिन्नताओ के बावजूद दोनो आचार्य मोक्ष प्राप्ति को अन्तिम प्राप्य और मोक्ष के अनन्तर जीव के अपुनरार्तनत्व को समान रूप से स्वीकार करते है।

'संदर्भ एवं टिप्पणियां'

1 सर्वदर्शन सग्रह पृष्ठ सख्या 9

2. सर्वदर्शन सग्रह पृष्ठ सख्या 74,103

3. वही–पृष्ठ संख्या 167-69

4 तदत्यन्तविमोक्षोंऽपवर्ग (न्यायसूत्र 1/1/22)

5. उपात्तस्य जन्मनो हानम्, अन्यस्य चानुपादानम्। (वहीं– 1/1/22)

6. इद तु पारमार्थिक, कूटस्थनित्य व्योमवत्सर्वव्यापी, सर्वविक्रियारहितम्, नित्यतृप्तम्, निरवयवम्, स्वयज्योति स्वभावम्। यत्रधर्माधर्मो सह कार्येण कालत्रयञ्च नोपावर्तते। तदेतशरीरत्व मोक्षाख्यम्।।

(शकरभाष्य–1/1/4)

7 स सर्वात्मभाव सर्वससारधर्मातीत ब्रह्म स्वरूपत्वमेव।

(शांकरभाष्यतैत्तरीयोपनिषद् – 2/1)

8 नापि साधनानुष्ठानेन निर्मुक्ताविधस्य परेण स्वरूपैक्यसभव अविद्याश्रयत्वयोग्यस्य तदनर्हत्वासभवात्।

(श्रीभाष्य–1/1)

9. परमात्मात्मनीर्योग परमार्थ इतीष्यते।

मिथ्यतदान्यद्द्रव्य हिनेति तद्द्रव्यामा यत ।। (विष्णुपुराण 2/14/27)

10 इद ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता ।

सर्गेपि नोपजायन्ते प्रलयेनव्यथन्तिच।। (गीता 14/2)

11 आत्मभाव नयत्येन तदब्रह्म ध्यानिनमुने।

विकार्यमात्मन शक्त्या लोहमाकर्षको यथा।।

(विष्णुपुराण 6/7/30)

13. यदैवमापन्न तदाऽसौपरमात्मना,

अभेदीभवति–भेदरहितोभवित।। (श्रीभाष्य–1/1/1)

14. न स्वल्पनन्यत्वमित्यभेद ब्रूम भेद व्यासधाम (भामती–2/1/14)

15. स्वरूपविर्भावरूप नापूर्वाकारोत्पत्तिरूप। (श्रीभाष्य–4/4/1)

16. वही – (वही– 4/4/3)

17. वही – (वही–4/4/8/9)

18. श्रीभाष्य– (4/4/14/15)

19 छान्दोग्योपनिषद्– (8/15/10)

20 श्रीभाष्य– (4/4/7)

21 लोकेषु विष्णोर्निवसन्ति केचित्

समीपमिच्छन्तिच केचिदन्ये।।

अन्ये तु रूप सदृश भजन्ते

सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्त।। भाष्यार्थ दर्पण, पृष्ठ 572 पर उद्धृत

22 विष्णु पुराण – 1/23/41

23 विष्णु पुराण – 1/22/53

24 वेदार्थसग्रह पृष्ठ सख्या– 314

25 जिज्ञासु प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपावाप्तीच्छु. (गीताभाष्य–7/16)

26 ओमित्येवाक्षर ब्रह्म मद्वाचक व्याहरन् वाच्य

मामनुस्मरन्नात्मन प्राण मूर्ध्न्याधाय देह त्यजन्य

प्रयाति स याति परमा गति प्रकृतिवियुक्त

मत्समानाकारमपुनरावृत्तिमात्मान प्राप्नोति। (गीताभाष्य–8/13)

27 गीताभाष्य–8/14-21 तक

28 छान्दोग्योपनिषद् 5/10/1

29 छान्दोग्योपनिषद् 5/10/1

30. पुरूष सूक्त 17.

31 परमपुरूषविभूतिमतस्य प्राप्तुरात्मन स्वरूपयाथात्म्यापवर्गसाधनपरम
पुरूषवेदनोपयोगितयाऽवगन्तव्यम, न स्वत– एवोपायत्वेन।

(श्रीभाष्य–1/4/19)

32 छान्दोग्योपनिषद् – 5/10/1

33 श्रीभाष्य– 1/1/4

34 छान्दोग्योपनिषद् – 5/24/3

35 श्रीभाष्य – 1/1/4

सप्तम् अध्याय

'रामानुज का परवर्ती वेदान्त पर प्रभाव'

१- द्वैत-वेदान्त पर प्रभाव

२- अद्वैत वेदान्त पर प्रभाव

३- शुद्धाद्वैत वेदान्त पर प्रभाव

४- वीर शैव सम्प्रदाय पर प्रभाव

५- रामावत सम्प्रदाय पर प्रभाव

नवीं शती, का प्रथमार्द्ध एक ऐसा विस्मयकारी परिवर्तन लेकर आया था, जो भग्न हो रही मृत्त–प्राय सनातन धर्म की प्राचीरो को पुनर्प्रतिष्ठापित करने वाला था। बौद्धो एवं जैनों के तथाकथित जनवादी चिंतन के प्रहारो से क्षत–विक्षत तथा हिन्दुओ की रसोई तक सिमट आया सनातन धर्म आचार्य शकर के महनीय कौशल से न केवल पुन आदर पा सका था वरन् उसकी विजय–वैजयन्ती दिगत मे फहराने लगी थी। आचार्य शकर सम्पूर्ण आर्यावर्त में न केवल बौद्धिक सर्वोपरिता का चूडान्त निदर्शन कर चुके थे वरन् मानव को उसकी सहज एव मूल्यात्मक आत्मीयता का गौरव दिलाने मे भी पर्याप्त क्षमतावान सिद्ध हुए थे। महज 32 वर्षो में ही विराट पौरस्त्य वागमय की सनातनी व्याख्या के द्वारा वे न केवल भारत वर्ष को एक नया चितन का आयाम दे सके थे वरन् मुक्ति–कामियो की आकुलता देख, ज्ञान के उत्कृष्ट मार्ग का प्रवचन भी किया था। किन्तु, इन सारी उपलब्धियो के बावजूद बौद्ध महायानियो की कई शाखाये, वाममार्ग की साधना का अनुसरण करते हुए पर्यावरण को विकृत कर रही थीं। भारतीय सस्कृति का यौगिक पक्ष अब आत्मोन्नति का मार्ग मात्र न रहकर, हठयोग जैसी आडम्बरपूर्ण क्रियाओ के माध्यम से जनता में आतकमिश्रित श्रद्धा का सचार कर वाहवाही लूटना चाहता था। सम्पूर्ण भारतीय अस्मिता के लिए, सनातन सस्कृति की भाव–रक्षा के लिए यह स्थिति एक सक्रमण की स्थिति थी। सामान्यजन एक ओर यदि शकर–प्रतिपादित रूखे ज्ञान से क्लान्त होकर धर्म–चितन से परांड्मुख हो चला था तो दूसरी ओर वज्रयानियो एव सहजयानियों के चमत्कार पूर्ण और आतकित करने वाले हठयौगिक कार्य–कलाप उसे विक्षिप्त किये दे रहे थे। फलत. प्राकृत जन न, ही इधर का हो रहा था और न उधर का। सम्पूर्ण परिदृश्य पर एक कुहासा–सा छाया हुआ था तथा सामान्य जनो को त्र्फण देने वाली कोई सत्ता नहीं दिख रही थी। ऐसे में जबकि समाज मे मीमांसोको के जटिल कर्मकाण्ड और अद्वैतवाद के कोरे ज्ञानकाण्ड के प्रति अरूचि–सी उत्पन्न होने लगी थी, दक्षिण भारत में आलवार सन्तों के रूप मे नये सस्कार रूप लेने लगे। अकुलाये हुए सामान्य जनो के लिए यह नयी विचारधारा एक वरदान स्वरूप थी जिसके लिए न ही कठोर वर्णाश्रम धर्म की अनिवार्यता

थी और न ही शास्त्रो के अनुशीलन की। यहाँ व्यक्ति के मन में सम्पूर्ण समपर्ण की भावना होना ही पर्याप्त था, चाहे वह किसी भी भाव से किया गया समर्पण क्यो न हो। इसी आलवार परम्परा मे आचार्य रामानुज का जन्म भारतीय इतिहास की एक युगान्तकारी घटना है। हिन्दू–धर्म की परिधि को व्यापक करने के लिए तथा सामान्य जन को सात्त्वना देने के लिये एक ऐसी समन्वयवादी प्रवृत्ति की आवश्यकता थी जो प्राचीन परम्पराओ एव नवीन प्रवृतियों के बीच समन्वय स्थापित कर सके और जो समाज के हर व्यक्ति तक सहजता से पहुचने वाली हो। इसी समन्वयवादी प्रवृति के प्रवर्तक बने आचार्य रामानुज, जिन्होने भक्ति के रूप मे अवतक चले आ रहे मुक्ति पथ को एक सुसगत दार्शनिक आधार दिया तथा उन्हीं क कारण भक्ति सामान जनो की आश्वस्ति का हेतु बनी।

इस समन्वयकारी प्रवृति के दो परिणाम हमारे सामने आते हैं। पहला यह कि रामानुज के इसी प्रयत्न से हिन्दू समाज मे आलवारो की कृतियो व सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा हो पायी। दूसरा यह कि हिन्दू धर्म एक बार पुन अपने जनवादी आधार को पा सका जिसके परिणामस्वरूप सामान्य जनता को अत्यन्त जटिल कर्मकाण्ड और शंकर के शुष्क ज्ञानवाद से मुक्ति मिल गयी। भक्ति के रूप मे अशक्तो, दीनों दु खियो को एक ऐसी औषधि प्राप्त हो गयी जिसके माध्यम से वे तमाम विषमताओ के वृश्चिक–देश एवं सामाजिक लॉछनाओ, अवमाननाओ की पीडा को भूल सकें। तन्मयता से जहॉ एक ओर उनके व्यक्तित्व का परिष्कार हुआ, वहीं सस्ते मे ही उन्हे मुक्ति का आलम्बन मिल गया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि भक्तिमार्ग अत्यन्त प्राचीन है और उसका मूल हमे वैदिक वागमय मे ही मिलता है। अब तक भक्ति के पीछे भक्त के हृदय का लगाव तो था पर कोई ठोस दार्शनिक आधार नहीं था। भक्ति को यह आधार उपलब्ध कराया आचार्य रामानुज ने जो इस लोकमगल की महायात्रा के पथ–प्रदर्शक थे। रामानुज द्वारा इस भक्ति–तत्व को दार्शनिक आधार दिये जाने और उसे सर्वग्राही बनाने के प्रयासों का परवर्ती समाज पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। श्री वैष्णव धर्म को एक सुसंगत दार्शनिक आधार मिल जाने के कारण जहाँ व्यापक सामाजिक प्रतिष्ठा

मिली, वहीं दूसरी ओर अन्य विचार–धारायें भी रामानुज के प्रभाव से अछूती न रह सकी। सक्षेप में, रामानुज के चिंतन का अन्य चिंतनों पर प्रभाव निम्नक्रम में ज्ञापित किया जा सकता है।

(i) द्वैत वेदान्त पर प्रभाव –

द्वैत वेदान्त की सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा श्री मध्वाचार्य ने की है। वैचारिक क्रम मे वे रामानुज के बाद आते है किन्तु उनकी भक्ति भी वैष्णवी भक्ति है। प्रेरणा–स्वरूप पाचरात्र आगमो की महत्ता वे भी स्वीकार करते है और सर्वागसमर्पण या प्रपत्ति उनका भी काम्य है। अपने 'पूर्ण–प्रज्ञ भाष्य' मे, यद्यपि तत्वमीमासा के क्षेत्र मे वे रामानुज से पर्याप्त सीमा तक भिन्न हैं परन्तु भक्ति की सर्वोच्चता एव उसकी मोक्ष साधनता को वे मुक्त कठ से स्वीकार करते है। मध्व के अनुसार भक्त के ध्येय, परात्परब्रह्म भगवान् विष्णु ही है[1]। रामानुज की भक्ति का प्राणतत्व है – 'स्नेह'। मध्व भी भक्ति के लिए स्नेह अर्थात् प्रेम की अनिवार्यता स्वीकार करते है[2]। मध्वाचार्य के चिंतन में ब्रह्म साक्षात्कार तभी हो सकता है जब स्नेहपूर्वक तैल धारावत् ध्येय का चितन हो। ब्रह्मसाक्षात्कार के फलस्वरूप मोक्ष के प्रधान कारण के रूप मे भक्ति की साधनता वे स्वीकार करते है[3]। यह भक्ति गुरू और ईश्वर की कृपा से ही साधक को प्राप्त होती है। कर्म और ज्ञान – ये दोनो ही भक्ति के अग बनकर ही सार्थक होते हैं और मोक्ष–प्राप्ति मे सहायक होते है। मध्व के प्रख्यात् अनुयायी चैतन्य महाप्रभु का पूरा जीवन रामानुज के प्रपत्ति–तत्व का प्रमाणक है। कालान्तर में उत्तर भारत मे भी भक्ति की दो धाराये आयीं, जिनमे एक के आराध्य थे – मर्यादापुरूषोत्तम भगवान् राम तथा दूसरी के लीलापुरूषोत्तम योगेश्वर भगवान् श्री कृष्ण। कृष्णको आराध्य मानने वाली शाखा का विकास आचार्य वल्लभ के भक्ति प्रवर्तन द्वारा हुआ जिसके केन्द्र बनने का गौरव मिला ब्रजमण्डल को। इसके विपरीत राम को अपना आराध्य मानने वाले जनसमुदाय के दिग्दर्शक हुए स्वामी रामानन्द जो तत्वतः और साधन मीमासा की दृष्टि में आचार्य रामानुज के पश्चादगामी थे।

अद्वैत-वेदान्त पर प्रभाव -

लोक मे यह मान्यता है कि अद्वैत–वेदान्त की दुरुह ज्ञानात्मकता के प्रतिकार मे विशिष्टाद्वैत की विचारधारा ने आकार लिया, किन्तु सत्य तो यह है कि शंकराचार्य जैसे अद्वैत के प्रवर्तक भी भक्ति की महनीयता एव आवश्यकता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते है। शंकर द्वारा किया गया गंगा का स्तवन शकर के हृदय में स्थित भक्तिरसामृतकुण्ड का ज्वलन्त निदर्शक है। रामानुज के नेतृत्व मे पूर्णता को प्राप्त हुए भक्ति आन्दोलन के द्वारा भी परवर्ती अद्वैती आचार्य पर्याप्त प्रेरित हुए। अद्वैतवेन्दात के प्रतिष्ठित आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति के मण्डनार्थ 'भक्ति–रसायन' नामक ग्रन्थ का प्रणयन ही कर डाला। 'अद्वैतसिद्धि' नामक अपने ग्रन्थ का समापन करते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती पुराणो में वर्णित कथाओं के माध्यम से जिन शब्दो मे भगवान विष्णु की बन्दना करते है उससे उनकी भक्ति भावना का सहज ही परिचय मिल जाता है।[4] किसी अद्वैतवादी आचार्य की यह मान्यता कि भक्ति–स्वतन्त्र पुरुषार्थ तथा मुक्ति से बढकर है–सुष्पष्टतया उसके भक्ति आन्दोलन से प्रभावित होने का ज्वलन्त साक्ष्य है। श्री मधुसूदन सरस्वती भक्ति को परमेश्वर के साधक के द्रवीभूत चित्त की धारावाहिक वृत्ति मानते है।[5] यहॉ धारावाहिकता से अभिप्राय तैलधारा के सदृश अविच्छिन्न प्रवाह से है। पूर्वका विवेचन प्रमाण है कि रामानुज ने अपनी ध्यानरूप भक्ति का विवेचन करते हुए यही मान्यता स्थापित की है। एक अन्यस्थल पर मधुसूदन सरस्वती सर्वोच्च ज्ञान से उत्पन्न होने वाले प्रेम को भक्ति कहते है।[6]

आचार्य रामानुज की तरह ही भगवान् वासुदेव को ही ध्येय रूप मे स्वीकार करना मधुसूदन सरस्वती का भी लक्ष्य रहा है। वे मानते है कि परब्रह्म परमार्थतत्व की प्राप्ति परमपुरुषार्थ है और ऐसा केवल भक्तियोग के माध्यम से ही संभव है। जीवन्मुक्ति की दशा मे भी मधुसूदन सरस्वती मुमुक्षु साधक को भक्ति भावना से ओत–प्रोत मानते हैं।[7]

आचार्य मधुसूदन सरस्वती के अतिरिक्त अद्वैत वेदान्त के एक अन्य महत्वपूर्ण आचार्य विद्यारण्य स्वामी हैं। उनके प्रख्यात ग्रन्थ 'पचदशी' का अनुशीलन करने पर यह प्रमाणित होता है कि भक्ति आन्दोलन का प्रभाव उन्हे भी छू गया है। 'पचदशी' मे भक्ति को मुक्ति का मार्ग बताते हुए विद्यारण्य स्वामी कहते है –

"समासक्त यथा चित्त जन्तोर्विषयगोचरे।

यद्देव ब्रह्मणि स्यात्तत् को न मुच्येत् बन्धनात्।।"

(पचदशी–11/115)

अर्थात जिस प्रकार जीव का चित्त इन्द्रियगोचर विषयो मे विधिवत् आसक्त रहता है, यदि उसी प्रकार वह चित्त ब्रह्म मे आसक्त हो जाये तो कौन ऐसा है जो संसार से मुक्त न हो जाय अर्थात् सभी ससार से मुक्त हो जाय। इसी तथ्य का समर्थन एक अन्य स्थल पर विद्यारण्य स्वामी विष्णु–पुराण मे भक्तराज प्रहलाद द्वारा कहे गये श्लोक को उद्वृत करके कहते है जिसमे अविवेकी जनो के विषय–प्रीति के सदृश तीव्र, अविच्छिन्न, ईश्वर–प्रीति की कामना की गयी है–

"या प्रीतिरविवेकानाम् विषयेष्स्वनुपायिनी।

त्वामनुस्मरत सा मे हृदयान् मापसर्पतु।।"

(पचदशी–7/203)

इसी प्रकार विद्यारण्य स्वामी जीव की असमर्थता को प्रकट करते हुए अन्तर्यामी प्रभु की इच्छा पर सब कुछ– कर्तव्य, अकर्त्तव्य–छोड देते है। पंचदशी मे वे कहते है –

'जानामि धर्म न च मे प्रवृत्ति–

र्जानाम्यधर्म न चमे निवृत्ति।

केनापि देवेन हृदि स्थितेन

यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।।'

(वही–6/116)

इन उदाहरणो से यह ज्ञापित होता है कि अद्वैत वेदान्त के परवर्ती व्याख्याकार उसकी एकांगिता को समझ चुके थे। वे यह भी जान चुके थे कि मानव के हृदय–पक्ष का जब तक मान नहीं रखा जायेगा तब तक किसी भी चिंतन के अपनी सम्पूर्ण अर्थवत्ता मे प्रतिष्ठित होने की आशा नहीं है। अतएव यह उन्ही के प्रयासो का सुफल है कि परवर्ती अद्वैत वेदान्त साधक के हृदय और बुद्धि दोनो को सतुष्ट करने मे सक्षम भक्ति–तत्व से पर्याप्त प्रभावित हुआ। इसे बौद्धिक–दार्शनिक आधार उपलब्ध कराने का महत्तर कार्य आचार्य रामानुज ने सम्पादित किया । ये अद्वैत वादी आचार्य ज्ञान के साथ ही साथ 'भक्ति की भी मुक्ति के लिए' अनिवार्यता पर बल देते है। इनमे 'अद्वैत–सिद्धि' के रचयिता मधुसूदन सरस्वती तो भक्ति को मोक्ष से भी आगे 'पचम पुरूषार्थ' के रूप मे स्वीकार करते है। विधारण्य–स्वामी जीव की ईश्वर के प्रति समर्पण–बुद्धि दिखाते हुए यह सिद्ध करते है कि यह समर्पण भक्ति, भक्ति के प्राणतत्व प्रपत्ति की भावना से भावित है। विद्यारण्य स्वामी तो यहाँ तक मान लेते है कि भ्रमवश या किसी अन्य कारण से यदि ईश्वर का स्मरण हो जाय तो सहज ही जीव को स्वर्ग–प्राप्ति हो जाती है।[8]

<u>शुद्धाद्वैत वेदान्त पर प्रभाव : –</u>

इस विचारधारा का प्रवर्तन वल्लभाचार्य ने किया है। इस विचारधारा के अन्तर्गत वे माया के सम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं। इसीलिए इस मत को 'शुद्धाद्वैत' कहते है। आचार्य रामानुज तथा परवर्ती अद्वैतियों के ही समान आचार्यवल्लभ ने भी मुक्ति के सर्वोच्च साधन के रूप में भक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है। भगवान् श्री बल्लभाचार्य के अनुसार ईश्वर की महत्ता के निरंतर ज्ञान तथा ध्यानपूर्वक ईश्वर के प्रति सुदृढ़ और उत्कट प्रेम भी भक्ति हैं। आचार्य मोक्ष–प्राप्ति का एक

मात्र माध्यम भक्ति ही बतलाते है और कोई दूसरा नहीं । 'तत्वदीप–निबन्ध' मे वे कहते हैं–

"महात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढसर्वतोऽधिकः।

स्नेही भक्तिरीतिप्रोक्तस्तयामुक्तिर्न चान्यथा।"

(शास्त्रर्थ प्रकरण– श्लोक 46)

आचार्य वल्लभ ने दो प्रकार की भक्तियो की चर्चा की है–पहली मर्यादा–भक्ति तथा दूसरी पुष्टि भक्ति।[9] मर्यादा–भक्ति से अभिप्राय वेद–प्रतिपाद्य कर्म और ज्ञान के सम्पादन के द्वारा ईश्वराधन हैं। इसमे फल की अपेक्षा बनी रहती है। मर्यादा–भक्ति के अन्तर्गत ही नवधाभक्ति का विवेचन हुआ है।

'पुष्टि–भक्ति' की परिभाषा करते हुए आचार्य बल्लभ कहते है कि बना किसी साधन के ईश्वर के अनुग्रह–मात्र से प्रादुर्भूत होने वाली भक्ति ही पुष्टि–भक्ति है। किसी भी प्रकार की फलाकाक्षा से रहित यह भक्ति निष्काम है। आचार्य वल्लभ का मानना है कि भगवान् की कृपा पाने के लिए एकान्त निष्ठा और शुद्ध अनुराग के साथ उनकी सेवा करनी चाहिये। सेवा दो प्रकार की होती है – नाम और रूप के भेद से, जिसके तनुजा (शरीर और उसके समस्त व्यापारों का एक निष्ठा से समर्पण), वित्तजा (धन–समर्पण) और मानसी (मन के द्वारा ईश्वर सेवा) रूप तीन अवातर भेद भी होते है। वल्लभाचार्य इनमे मानसी सेवा को ही सर्वोत्तम सेवा मानते है। 'पुष्टि–भक्ति' को ही श्रेयस्कर मानते हुए बल्लभाचार्य कहते हैं कि वर्ण,जाति, तथा देश आदि भेदों से रहित होने के कारण कलियुग मे संसार के भय से आकुल लोगो के लिए यही भक्ति श्रेयस्कर है। वल्लभाचार्य की भक्ति का भी मूल तत्व प्रेम या अनुराग ही है। रामानुज का प्रपत्ति सिद्धान्त, जिसे रामानुज भक्ति के अग के अतिरिक्त ईश्वर प्राप्ति के स्वतन्त्र साधन के रूप मे भी स्वीकार करते हैं और जिसमे देश वर्ण,जाति, ओर योनि का कोई बन्धन नहीं है, 'पुष्टि– भक्ति' के प्राणतत्त्व फलाकांक्षा से रहित आत्मसमर्पण का निश्चित रूप से प्रेरणास्रोत बनता है। तीनो वर्णों के स्वाध्यायसम्पन्न मुमुक्षुओं के लिये

प्रतिपादित रामानुजी भक्ति के स्थान पर वल्लभ द्वारा विवेचित भक्ति का स्वरूप कहीं अधिक व्यापक हैं। इसका कारण निश्चित रूप से उस समय की सामाजिक आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति के लिए आचार्य बल्लभ ने अपने वैचारिक चितन को आकार दिया था। तत्कालीन स्थितियो मे सामाजिक और राजनैतिक सक्रमण का वल्लभ बडी सूझ–बूझ से समाधान ढूँढते हैं। इसी सक्रमण–काल में आचार्य बल्लभ ने श्रीकृष्ण की लीलाओ का गान करने वाले एक विशिष्ट पुष्टिमार्ग की स्थापना की, जिसके आलम्वन राधा–कन्हाई बने और जिसका प्राण–तत्व इन्हीं राधा–कृष्ण के प्रति समर्पण का भाव था। इस पुष्टि भक्ति के प्रवर्तन के द्वारा आचार्य वल्लभ ने हिन्दू जाति को जीवित रखने का प्रशसनीय यत्न किया। इस पुष्टि–मार्ग की परम्परा को आगे बढाने वाले सूरदास और नन्ददास जैसे कृष्णलीला के अप्रतिम गायक आचार्य वल्लभ की शिष्य परम्परा मे हुए जिनकी लेखनी से उपजी पावनसलिला कृष्ण भक्ति के प्रवाह मे अवगाहन कर प्राकृत–जन परम्परा को वह आनन्दएव सन्तोष मिला जिसके बल से वह अपनी रीतियों, परम्पराओ, मर्यादाओ, तथा अपने विश्वजनीन धर्म को प्राण युक्त रखने मे सक्षम हो सका।

<u>वीर शैव सम्प्रदाय पर प्रभाव :–</u>

रामानुज की तत्व और साधन–मीमासा दोनों का ही पर्याप्त प्रभाव हमे 'शिवाद्वैत–वेदान्त' पर देखने को मिलता है। तत्व–मीमांसा के क्षेत्र में शिवाद्वैत के भेदा–भेदवाद को रामानुज पूर्णतया अस्वीकार कर देते हैं। साधन–मीमांसा की दृष्टि से रामानुज द्वारा प्रतिपादित भक्ति की मोक्ष साधनता का शैवाद्वैत वेदान्त के आचार्य भी समर्थन करते हैं। शैवाद्वैत वेदान्त के एक प्रमुख आचार्य 'श्रीपति' ने स्वरचित 'श्रीकरभाष्य' मे वेदान्तशब्दजन्य केवल ज्ञान से परम पुरूषार्थ की प्राप्ति नहीं मानी वरन् वे मोक्ष–प्राप्ति हेतु उपासन रूप ज्ञान को ही अनिवार्य मानते है। रामानुज की ही शैली में आचार्य श्रीपति भी वेदन् और उपासन की एकार्थकता को सिद्ध करने के लिए प्रमाण देते हैं।[10] 'श्रीकर भाष्य' के अनुसार ही मोक्ष–साधनत्वेन अभीष्ट उपासन, वेद्न और ध्यान एकार्थक है, क्योंकि ये सभी स्मृति–सन्तान रूप

है। भाष्याकार आचार्य श्रीपति कहते है कि ये ध्यानादि भक्ति रूप होने पर ही परम पुरूषार्थ–प्राप्ति के साधन बनते हैं। श्रीकर भाष्य मे रामानुज द्वारा प्रतिपादित 'प्रसाद–सिद्धान्त' को भी ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया है। दोनो ही आचार्य इस बात पर सहमत है कि ईश्वर–साक्षात्कार हेतु परमसाधनभूता भक्ति का पुरूषोत्तम की असीम अनुकम्पा से ही उद्भावन होता है। दोनों मे अन्तर मात्र इतना है कि जहॉ रामानुज अपना आराध्य श्री विष्णु को मानते हैं वही आचार्य श्रीपति भगवान् शिव को।[11]

आचार्य श्रीपति कर्म को साधक की साधना का अनिवार्य अग मानते है। रामानुज की ही भॉति इनको भी कर्मो की निष्कामता और ईश्वरार्पणता अभिप्रेत है; क्योकि इन विशेषताओ से युक्त कर्मो के द्वारा ही पापक्षय और उससे चित्तशुद्धि सम्भव है। तथा, आचार्य श्रीपति मानते है कि चित्तशुद्धि के अभाव मे मोक्षसाधनभूता भक्ति का उदय नहीं हो सकता।[12] इसके अतिरिक्त ईश्वर के प्रति अनन्यता और अहकार–शून्यता भक्ति हेतु पात्रता की अनिवार्य शर्ते है।

उपर्युक्त आधारो पर प्रमाणित होता है कि जिस प्रकार रामानुज के चितन में भक्ति के ध्यान वेदन् और उपासन के साथ पर्यायत्व और सर्वोच्चत्व का विधान मिलता है, ठीक उसी प्रकार साधन–मीमांसा के क्षेत्र मे आचार्य श्रीपति रामानुज की सत्य प्रतिलिपि प्रतीत होते हैं।

रामावत सम्प्रदाय :-

पूर्व के विवेचन मे यह बताया जा चुका है कि राम और कृष्ण विष्णु के इन दो उपास्या रूपो की प्रतिष्ठा मध्यकाल मे हो चुकी थी। उपास्य के रूप मे राम की भक्ति का प्रवर्तन स्वामी रामानन्द ने किया था, जो एक दक्षिण भारतीय सन्त और काशी में आकर बस गये स्वामी राघवाचार्य के शिष्य थे। गुरू–परम्परा की दृष्टि से रामानन्द का उद्भव आचार्य रामानुज की तेरहवीं पीढी में हुआ था और उत्तर भारत में भक्ति के प्रवर्तक बने थे। कहा भी गया है–

"भक्ति द्राविड ऊपजी लाये रामानन्द।

परगट किया कबीर ने सप्त द्वीप नव खण्ड।।

भारतवर्ष के लिये यह समय घोर सक्रमण का था। सम्पूर्ण उत्तर भारत में इस्लाम की आक्रान्ता संस्कृति समाज को तहस–नहस किये दे रही थी। युगों से अपनी समन्वयी प्रकृति के कारण अटूट रही सनातन सस्कृति भी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए सघर्षरत थी। इसके पूर्व भी सनातन सस्कृति के सामने बौद्धादि अनेक आन्दोलन उठे थे परन्तु वे मूलत परम्परा में आयी जडता का विनाश करने के लिये उन्ही मूलमानबिन्दुओ पर खडे थे, जो सनातन सस्कृति के भी आधार थे। अब पहली बार भारतीय समाज एवं चितन के सामने एक ऐसी सास्कृतिक चुनौती थी, जो न केवल अपनी सरचना मे एक अलग माटी की उपज थी वरन् अपने सिद्धान्तो के प्रति सजगता एव प्रतिबद्धता का भाव भी उसमे चरम पर था। हिन्दू प्रजा के लिये अपने पुरातन विश्वासो और मान्यताओ की रक्षा कठिन हो चली थी। हिन्दू समाज की इस कमजोरी का कारण उसके अपने अंधविश्वास एवं कुरीतियॉ भी थीं जिनके कारण हिन्दू–धर्म रसोईघर तक सिमट कर रह गया था। स्वय हिन्दू समाज का ही एक वर्ग लाछित और प्रताडित था। आक्रान्ताओ ने इस सामाजिक स्थिति का भरपूर लाभ भी उठाया। वे एक हाथ मे तलवार और दूसरे मे कुरान लेकर काफिरों को मुसलमान बनाने पर तुले थे। साथ ही, जहॉ भारतीय समाज अपने ही लोगो पर अनेको अयोग्यताये थोपकर उन्हे खण्ड–खण्ड किये दे रहा था, वही इस्लाम, उन तिरस्कृतो को केवल धर्मान्तरण की शर्त पर अपना लेने को उद्यत था। सम्पूर्ण भारतीय समाज, मानो ज्वालामुखी के मुहाने पर खडा हुआ था। ऐसी हताशा और वैचारिक कुण्ठा के संक्रमण काल मे हिन्दू धर्म और दर्शन को एक ऐसे नवीन स्वरूप की आवश्यकता थी, जो सर्वग्राही होने के साथ–साथ लोगों के हृदय और बुद्धि को सन्तुष्ट कर सकें। ऐसी ही कुहासे की स्थिति मे प्रकाश की एक कौंध बनकर स्वामी रामानन्द भारतीय आस्मिता के क्षितिज पर आ खडे हुए।

स्वामी रामानन्द आचार्य रामानुज की शिष्य परम्परा में होने के कारण तत्वमीमासा के क्षेत्र मे पूर्णतया उन्हीं के अनुगामी थे। दोनो के मध्य अन्तर मात्र इतना था कि जहॉ रामानुज के आराध्य भगवान् श्रीमन्नारायण थे वही रामानन्द के सीता और राम। ये राम दशरथ पुत्र होने के साथ–साथ भगवान् श्रीमन् नारायण के अवतार भी थे। तत्वमीमांसा के क्षेत्र मे इस प्रकार का परिवर्तन स्वाभाविक एवं सामयिक भी था। हिन्दू जनमानस दिन–प्रतिदिन विधर्मी शासको द्वारा पवित्र व प्रसिद्ध मन्दिरो में तोडी जाती हुई देवताओ की असहाय मूर्तियो को देखकर क्षुब्ध हो उठा था। ये देवता उसे वास्तविक नहीं, कल्पना और अधविश्वासो की प्रतिमूर्ति सी लग रहे थे। समाज में यह धारणा बनती जा रही थी कि जो अपनी रक्षा स्वय नहीं कर सकते ऐसे काल्पनिक अगोचर देवताओ की आराधना से क्या लाभ? स्वामी रामानन्द ने सामाजिक दृष्टिकोण मे आये इस परिवर्तन को पहचाना और भगवान् श्रीमन् नारायण के स्थान पर समाज को श्री सीता–राम की आराधना का मूलमत्र दिया। 'राम' और 'सीता' केवल लक्ष्मी–नारायण भगवान् के अवतार मात्र नही थे वरन् मानवीय होने के साथ–साथ वे लोक रक्षक, दुष्टहन्ता और जनमतसमाराधक भी थे, जिससे क्षुब्ध समाज को प्रेरणा और सन्तोष दोनो की प्राप्ति हो सके।

इससे भी बढकर स्वमी रामानन्द ने जो कार्य किया वह था, रामानुज प्रतिपादित भक्ति सिद्धान्त के आचार–पक्ष मे परिवर्तन। भक्ति का स्वरूप तो रामानन्द को वही मान्य था जिसका प्रतिपादन आचार्य रामानुज ने किया था –

"सा तैक्त धारासमनित्यसस्मृतिः

सन्तानरूपेशिपरानुरक्तिः।

भक्तिर्विवेकादिकसप्रजन्या

तथा यमाद्यष्ट सुबोधकांगा।।"

(वैष्णवमताब्जभास्कर पृष्ठ सं०–45)

किन्तु इसके व्यावहारिक पक्ष को स्वामी रामानन्द ने पर्याप्त परिवर्तित कर दिया। रामानन्द ने भक्ति का द्वार मानव मात्र के लिए खोल दिया। वर्ण, लिग, देश और उपासना पद्धति के समस्त कृत्रिम प्रतिबन्ध हटा दिये। फलत- राम–भक्ति की मन्दाकिनी मे ब्राह्मण और शूद्र ही नहीं अपितु हिन्दू और मुसलमान भी एक साथ गोता लगाने लगे। पूजा सम्बन्धी विविध अनुष्ठानों के आधार पर उन्होने भगवान सीताराम के भजन कीर्तन पर विशेष बल दिया। श्री वैष्णव सम्प्रदाय मे प्रतिष्ठा प्राप्त सस्कृत के स्थान पर लोक–भाषा को प्रतिष्ठापित किया। यही नहीं, स्वामी रामानन्द ने रामभक्ति के प्रचार के माध्यम से समस्त समाज को मर्यादा, कर्तव्यपालन तथा सदाचार का सन्देश दिया और समाज का श्लाघ्य नियमन किया।

स्वामी रामानन्द के इन्हीं प्रयासो से रामानुज के भक्ति सिद्धान्त की परिधि व्यापक हो गयी। रामानुज ने तो भक्ति के लिये अशक्त अैर अक्षम–जनो के लिए प्रपत्ति–पथ का उपदेश किया था किन्तु रामानन्द ने भक्ति और प्रपत्ति को मिलाकर भक्ति को सर्वग्राही बना दिया। हिन्दू–समाज पर उसका अतिव गुणात्मक प्रभाव पडा। समाज का उपेक्षित वर्ग अपने पुरातन धर्म के प्रति आदर और विश्वास करने लगा। ऊँच–नीच की दीवार समाप्त हो जाने के कारण वे अपने पूर्वजो के धर्म व विश्वासो की रक्षा हेतु प्राण समर्पण करने के लिए भी उद्यत हो ऊठे। फलत· समाज के सदियो से उपेक्षित वर्ग को धर्मान्तरित करने की इस्लाम की दुरभिसन्धि सफल न हो सकी। 'भक्ति–तत्व' हिन्दू समाज की रक्षा के निमित्त अमोघ नारायणास्त्र बन गया। रामानन्द की ही शिष्य परम्परा मे समाज की तत्कालीन कुरीतियो एव अन्धविश्वासो पर प्रहार करने मे दक्षकबीर, समाज को आदर्श, त्यागमय जीवन का अमर सन्देश देने वाले तुलसी जैसे शिष्य हुए जिनके कारण विपरीत परिस्थितियों मे भी जीवित रहने का बहुत बडा सम्बल मिला तथा लोक मंगल का निर्वहन हुआ।

कबीर भारतीय चिंतन धारा की क्रान्तिकारी चेतना के एक दुर्धर्ष योद्धा तथा

सस्कृति–संवाहक थे, जिन्होंने सगुण राम के रूप मे निराकार की उपासना की थी। कबीर ने वैष्णव सम्प्रदाय में प्रयुक्त होने वाले राम के पर्याय विष्णु, ओऽम् कृष्ण, हरि, गोविन्द, नारायण, केशव आदि शब्दों का अनेक स्थलो पर प्रयोग किया है। इन नामो के प्रयोग से कबीर पर वैष्णव चितन की स्पष्ट छाप दिखई पडती है। वे कहते है–

"विष्णु ध्यान सनान करि रे, बाहरि अग न धोई रे।"

(कबीर ग्रन्थावली पद–397)

इसी तरह कृष्ण का स्मरण करते हुऐ वे कहते है –

'कृसन् कृपाल कबीर कहि इम प्रतिपालन क्यो कर।।'

(वही – पृष्ठ 57 छन्द 1)

कबीर अपने गुरू स्वामी रामानन्द की तरह विविध अनुष्ठानो के स्थान पर आराध्य के ध्यान, स्मरण, कीर्तन आदि पर जोर देते हैं। कबीर की भक्ति भी प्रेमरूपा है। वे कहते है–

"अब हरि हो अपनी करि लीनौ, प्रेम भगति मेरे मन भीनौ"

कबीर के प्रेम की अनन्यता एव आराध्य के प्रति आत्मनिवेदन अद्‌भुत है –

"नैना अन्तर आव तू ज्यो हौ नयन झपेउँ।,
न हौ देखो और को ना तुझ देखन देउँ।।"

(वही–पृष्ठ–19, दोहा–2)

इस प्रकार कबीर के द्वारा की गयी भक्ति–विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि रामानुज द्वारा प्रतिपादित भक्ति सिद्धान्त के आवश्यक उपादान कबीर के ग्रन्थों में प्रचुर रूप में दृष्टिगोचर होते है, जिनसे कबीर पर रामानुज के प्रभाव की पुष्टि होती है।

गोस्वामी तुलसीदास राम भक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। वे दशरथ–पुत्र मर्यादा पुरूषोत्तम श्री राम की भक्ति करते हैं। तुलसी कर्म, उपासना और ज्ञान तीनो को ही वेदसम्मत और सत्य मानते है। किन्तु अन्तत वे सर्वत्र सावन के अधे की हरियाली के समान राम को ही देखते है। स्पष्टत. वे भक्त है। 'विनय पत्रिका' मे वे कहते हैं–

"करम उपासन ज्ञान वेदमत सो सब भॉति खरो।

मोहि त सावन के अधहि ज्यो सूझत रग हरो।।"

तुलसी प्रेम को भक्ति का मूलतत्व मानते हैं तथा उसका स्वरूप चित्त का द्रवीभूतत्व स्वीकार करते हैं। इस तरह तुलसी के लिए भक्ति मूलतत्व है। राम चरित मानस मे वे कहते है–

"राम भजत सोइ मुक्ति गोसाई। अनइच्छित आवै बरियाई।।

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। ससृतिमूल अविद्यानाशा।।"

रामानुज की तरह तुलसी के लिये भक्ति साधन भी है और साध्य भी। राम के अनन्य भक्त उनकी भक्ति के अतिरिक्त मोक्षाधिक फलो की कामना नहीं करते –

"अस विचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने।।"

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि केवल साधन–मीमासा की दृष्टि से ही नहीं अपितु तत्व–मीमासा के क्षेत्र मे भी तुलसी के ऊपर रामानुज का प्रभाव पडा है। वे स्पष्ट रूप से जीव को ईश्वर का अश और नित्य कहकर रामानुज के अशांशि–भाव को स्वीकार करते है, वे कहते हैं –

"ईश्वर अस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।"

साधन–पक्ष मे तो शरणागति और साध्य–साधन रूप भक्ति के रूप में तुलसी, रामानुज का पूर्णतया अनुगमन करते है।

इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य रामानुज ने आलवार सन्तो की नवीन प्रवृत्तियो को सनातन हिन्दू–धर्म में समाहित करके धर्म और दर्शन के मध्य अद्भुत समन्वयरूप जिस भक्ति–तत्व का प्रतिपादन किया था, वह शताब्दियो तक न केवल जिज्ञासुओं की बुद्धि और हृदय को, समभावेन, सन्तुष्ट करता रहा अपितु विषम परिस्थितियों में उसी का आश्रय ग्रहण करके भारतीय मनीषी समाज को नवीन दिशा भी देते रहे, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू समाज अपने को सुरक्षित रख सका। रामानुज का ही यह प्रभाव है कि आज राष्ट्र के मानस में भक्ति का तत्व सर्वप्रमुख है। लोक मे कितनी ही निराशा मिले, क्षीर–सागर मे लक्ष्मी सहित निवास करते हुए श्री विष्णु सदा–सर्वदा भक्त के मन का सबल बने रहते हैं। आज भी सम्पूर्ण जनमानस रामानुज प्रतिपादित भक्ति का अवलम्ब ले मुक्तिकामनया साधना के पथ पर अग्रसर है। वस्तुत यमुना के तट पर वंशी बजाते श्रीकृष्ण हो या सरयू के तट पर विहार करते 'राम', दोनो ही रामानुज के आराध्य श्रीमन्नारायण के दो रूप हैं जो अद्यपर्यन्त कोटि–कोटि जनो पर करूणा करते हुए उनकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। सम्पूर्ण पौरस्त्य धर्म एव दर्शन आचार्यपाद के इस अप्रतिम योगदान के लिए युगों–युगो तक ऋणी रहेगे। और, दीनो, अशक्तो, दरिद्रों के लिए तो वे साक्षात् भगवान् ही बने रहेगे, यह निर्विवाद है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1- सर्वान् वेदान् सेती हासान् स पुराणान् सयुक्तिकान्।
सपचरात्रान् विज्ञाय विष्णुर्ज्ञेयोन चान्यथा।।

(पूर्ण प्रज्ञ भाष्य – 3/3/5)

2- महत्व बुद्धिर्भक्तिस्तु स्नेह पूर्वाभिधीयते।

(वही – 3/2/19)

3- भक्तिस्थ परमो विष्णुस्तयेवैनम् वसम् नयेतु।
तमेव दर्शनम् यात प्रदद्यान्मुक्तिमेतया।।
स्नेहानुबन्धो यस्तस्मिन् बहुमान पुरस्सर।
भक्तिरित्यच्यते सेव करण परिमक्ष्यतु।।

(वही–3/3/54)

4- यो लक्ष्म्या निखिलानुपेक्ष विबुधानेकोवृत स्वच्छया य
सर्वान्समृतमात्र एव सतत् सर्वात्मना रक्षति। यस्य
चक्रेण निकृत्यनक्रमकरोन्मुक्त महाकुजल् द्वेषेणापि ददाति यो
निजपदम् तस्मै नमो विष्णवे।।

(अद्वैत सिद्धि पृ०स०–900)

5- द्रुतस्य भगवद्द्धर्माद्धारावाहिकता गता।
सर्वेशे मनसोवृतिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।

(भक्ति रसायन – 1/3)

6- भक्ति सर्वोत्कृष्टत्व ज्ञान पूर्विका प्रीति।

(गीता गूढार्थ संग्रह – 5)

7- जीवन्मुक्ति दशायाम् तु न भक्ते फलकल्पना

अद्वैष्ट्त्वादिव तेषा स्वभावो भजन हरे ।।

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरि ।।

(गीता अनुक्रमणिका भाष्य पृ० स०– 37-38)

8- ज्वरेणाप्त सन्निपात भ्रान्त्वा नारायण स्मरन्।

मृत सर्वमवाप्नोति स सम्वादिभ्रमो गत ।।

(पचदशी – 9/9)

9- अणुभाष्य – 3/3/42

10- वेदान्तशब्दजन्यज्ञानादेव न ब्रह्मसाक्षात्कारो विधीयते।

सद्गुरू करूणा कटाक्ष लब्ध तदुपासनज्ञानादेव तत्साक्षात्कारसिद्धिरयमेव

श्रोत मार्ग ।

(श्रीकर भाष्य – 1/1/4)

11- ध्यानहरहरनुष्ठीयमानर्नित्यर्नेमित्तिकभि रिशवाराधनरूपै ।

शिवप्रसादद्वारेण जायते इति।

(वही–3/4/26)

12- मलिनान्त-करणकृत परमेश्वरार्पित कर्माणाम् दुरित निवृतद्वारा

परम्पराब्रह्मप्राप्तिकरामिति निश्चीयते।

(वही–3/4/42)

॥ उपसंहार ॥

प्रस्तुत अध्याय शोध–प्रबन्ध का अन्तिम चरण अर्थात वैचारिक पर्यवसान है। जहाँ तक सम्भव हो सका, उपलब्ध सामग्री के आधार पर मैने भक्ति तत्व को उसके सार्वभौम स्वरूप मे उसे पंचम पुरूषार्थ के रूप में प्रतिस्थापित करने का पिपीलिका–प्रयास किया है। और इस तथ्यानुसधान–यात्रा में पाथेय उपलब्ध कराया है, श्री वैष्णव सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व आचार्य रामानुज ने। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध मे आलोच्य विषय रामानुज की भक्ति होने के कारण मैने रामानुज के पूर्व पौरस्त्य वागमय में प्राप्त भक्ति को पूर्वपीठिका बनाते हुए, रामानुज प्रतिपादित भक्ति का सागोपाग विवेचन किया है और परवर्ती दार्शनिक जगत पर उसके प्रभाव के सन्तुलित मूल्याकन का यत्न भी किया है।

रामानुज जिस समय उत्पन्न हुए थे, सम्पूर्ण भारतीय अस्मिता के लिए वह सक्रमण काल था। आचार्य शंकर के कोरे ज्ञानवाद से उकताया हुआ जनमानस त्राण पाने के लिए जब दूसरी ओर मुँह घुमाता था, तो वहाँ भी हठयोगियो एव वाममार्गी साधको द्वारा चल रहे विरूप अनुष्ठानो के रूप मे अर्न्तमन को आतकित कर देने वाली स्थितियाँ ही मिलती थी। इस परिवेश मे वाह्याचारों के आडम्बर से जर्जर होती हुयी, हिन्दू सस्कृति के सामने प्रतिवाद के रूप मे आक्रान्ता इस्लामी सस्कृति थी, जिसमे पूर्ण वैचारिक प्रतिबद्धता एव क्रूरता थी। भारतीय समाज का वह हीन और दलित जिसे हिन्दूओ ने शूद्र कहकर तिरस्कृत कर दिया था, इस नये धर्म में, महज धर्मान्तरण की शर्त पर, आश्रय पाने लगा। स्थिति और भी कठिन हो गयी। अभी तक तो हिन्दू समाज भले ही विभिन्न उपवर्गो मे बटा था किन्तु वहाँ विघटन की कोई चुनौती नहीं थी। पर अब तो सकट सामने था। इस दारुण स्थिति मे प्राकृत जन के अन्तर्मन को तृप्त करने के लिए जो अमृतकलश वाछित था, उसे ही लेकर आलवार सन्त अवतरित हुए। ये सन्त जितने उच्च कोटि के साधक थे उतने ही सहज और सरल भी। अनिश्चय की धुन्ध जन मानस की ऑखों से छटनें लगी। यहाँ न तो कुमारिल भट्ट जैसा

कोरा कर्मकाण्ड अपेक्षित था और न ही शकर का शुष्क बुद्धिवाद। यहाँ मुक्ति के लिए अहं भाव का विसर्जन करके ईश्वर के प्रति किया गया आत्मसमर्पण ही पर्याप्त था। इसी परम्परा मे कालान्तर में रामानुज भी उत्पन्न हुए। उक्त दोनो अतिवादो को छोड रामानुज ने अपनी समन्वयी दृष्टि से ऐसे भक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसमे कुमारिल का कर्मकाण्ड, शकर का ज्ञान और आलवारों के आत्मसमर्पण की सन्तुलित व्यजना थी। यही कारण है कि रामानुज जहाँ एक ओर दार्शनिक पटल पर सुधी जनो की ज्ञान पिपासा शान्त करते हैं, वहीं जन सामान्य को भक्ति–मदाकिनी मे अवगाहन करा भक्त शिरोमणि भी बन जाते हैं। सही सन्दर्भो मे रामानुज एक जन–नेता हैं, जो विचारधारा को आन्दोलन की शक्ल दे समाज का नियमन करते है, एव लोकमगल का निर्वहन भी। रामानुज की समन्वयी दृष्टि के कारण ही भक्ति आन्दोलन का स्वरूप इतना व्यापक हो सका।

रामानुज 'भक्ति' शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थो मे करते हैं, जिसके अन्तर्गत सामान्य पूजा–पाठ आदि से लेकर उच्च कोटि का आत्मदर्शन तक आ जाता है। इतना ही नहीं, श्रुतियो एव स्मृतियो मे मुक्ति के साधन के रूप मे बताये गये वेदन, ध्यान, उपासना और सेवा आदि को भक्ति का ही पर्याय मानते है।

रामानुज भक्ति को तीनो वर्णो के साधको के द्वारा ही अनुष्ठेय मानते हैं। इसके लिए इन साधको को पर्याप्त साधना करनी पडती है। इस भक्ति मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है, ईश्वर–रूप परमसत्ता मे अतिशय अनुराग। रामानुज के लिए निष्काम–भाव से ईश्वर को भजता हुआ भक्त, ईश्वर सामीप्य के अतिरिक्त किसी मुक्ति की कामना नहीं करता। वह मुक्ति उसे स्वयं भगवान श्रीमन्नारायण ही देते है। रामानुज के अनुसार भक्त के लिए भगवान श्रीमन्नारायण की भक्ति ही परमप्राप्य है। पुरूषोत्तम श्री विष्णु के सानिध्य के लिए इसी भक्ति का अधिकारी भेद से आचार्यपाद ने विधिवत विवेचन किया है।

परन्तु प्रश्न यह उठता है कि अधिकारी साधकों के अतिरिक्त समाज मे दीन, दु.खी, दरिद्र, अशक्त, शूद्र और स्त्रियों के लिए क्या मुक्ति सम्भव नहीं होगी? इसके उत्तर स्वरूप आचार्य 'प्रपत्ति' का निर्वचन करते हैं। इस प्रपत्ति–मार्ग के आराधक को किसी भी प्रकार की कठिन साधना नहीं करनी है, बस उसे परमपुरूषोत्तम भगवान श्री विष्णु के पाद पद्मो मे मनप्राण को समर्पित कर देना है। इस समर्पण मे अह का विसर्जन है जिससे व्यक्ति मानापमान रहित हो, सामाजिक समरसता के भाव का निर्माण भी करता है। यह प्रपत्ति उन त्रैवर्णिक साधको के लिए भी अपरिहार्य है जो विहित विधि से भक्ति–साधना मे लगे हुए हैं। रामानुज श्रुतियो, स्मृतियो में वर्णित परमसत्ता के विभिन्न नामो द्वारा भगवान विष्णु की सर्वोपरिता का प्रमाण देते हैं। रामानुज इस प्रकार सम्पूर्ण समाज को एक सम्बल उपलब्ध कराते है, जिसके आधार पर व्यक्ति की अपनी सस्कृति मे आस्था जीवन्त रहती है।

अतएव, उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि रामानुज भक्ति को ही परमपुरूषार्थ प्राप्ति का एकमात्र साधन मानते है। ज्ञान और कर्म की सार्थकता इसी भक्ति का अग बनने मे ही है, किन्तु रामानुज शास्त्र विहित कर्मो के अनुष्ठान को भी साधक की जीवन यात्रा के सचालनार्थ आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पौरस्तय वांगमय का गम्भीरता से अनुशीलन करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि भक्ति भारतीय सस्कृति की मेरूदण्ड रही है। चाहे वह वैदिक साहित्य हो या पौराणिक इतिवृत्त, नास्तिक दर्शनो का वर्ग हो या आस्तिक–दर्शन परम्परा, भक्ति सर्वत्र अर्न्तवर्ती सूत्र के रूप मे उपस्थित है। इस प्रकार यह "पचम–पुरूषार्थ" के रूप मे सिद्ध होती है। कुमारिल और शकर के दुरूह ज्ञान तथा बौद्धों और जैनो की विपधगा मनोवृत्ति–दोनों से समाज को बचाकर रामानुज ने जो भक्ति रूपी अमृत दिया उसके लिए हम आजीवन उनके ऋणी रहेंगे। कुहासे मे भटक रहे मानव की आत्मा को पहचान कर उन्होने बुद्धि और हृदय दोनों में जो सन्तुलन स्थापित किया वह अप्रतिम है। अहं का विसर्जन

भक्ति का मूलमन्त्र बताकर उन्होंने सामाजिक समरसता एवं सह अस्तित्व के भाव को पर्याप्त बल दिया तथा आक्रान्ता संस्कृति के कठिन प्रहारो से भारतीय सास्कृतिक आस्मिता को क्षत–विक्षत होने से बचा लिया। फलत आज वे एक विराट जन–नेता के रूप मे हमारे सामने हैं। भक्ति का जो स्वरूप आज विविध तीर्थस्थलो एव कार्यक्रमो, आयोजनो मे दिखता है, यदि हम उसका सूक्ष्म अवलोकन करे तो उनके पीछे निश्चय ही भगवान रामानुज की आश्वासित करती हुयी भावपूर्ण मूर्ति दिखायी देगी। ऐसे मनीषी भक्त की स्मृति मे गलदश्रु पौरस्त्य मनीषा स्वत कह उठती है –

नम रामानुजार्याय तस्मै परमयोगिने।

य श्रुतिस्मृतिसूत्राणामन्तर्ज्वरमशीशमत्।।

।। इति ।।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. A Critical study of the philosophy of Ramanuj - Dr. Anima Sen Gupta, The Chowkhambha Sanskrit Series office; Varanasi

2 Early History of the Vainsava-Sect. - Rai Choudhary, Calcutta University, Calcutta

3. Outline of Indian Philosphy - M. Hiriyanna London

4. Introduction to the pancharatra and the ahirbudhanya Samhita. - Otto Schrader, Adyar Library, Madras

5. Life of Ramanujacharya - A Govindacharya, Madras

6 Vaisnavism, Shaivism and minor Sects - R.G. Bhandrakar Poona.

10 अणुभाष्य – वल्लभाचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

11 अद्वैत–सिद्धि – मधुसूदनसरस्वती, निर्णय सागर प्रेस बम्बई।

12 अहिबुध्न्यसहिता – अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास।

13 आपस्तम्ब धर्म सूत्र–आपस्तम्ब – चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी।

15 आर्षेय ब्राह्मण (सायणभाष्य साहित्य) – डॉ०बी०आर०शर्मा, चौखम्भा सस्कृत विद्याभवन वाराणसी।

16 ईशावास्योपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर।

17 ऋग्वेद सहिता – सस्कृति सस्थान, बरेली।

18 ऐतरेय ब्राह्मण – चौखम्भा सस्कृत सीरीज, वाराणसी

19 ऐतरेययोपनिषद – गीता प्रेस, गोरखपुर।

20 कठोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर।

21 केनोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर।

22 कबीर ग्रन्थावली – नागरी प्रचारणी सभा, काशी।

23 गद्यतत्र – आचार्य रामानुज सोमानी ट्रस्ट, बम्बई।

24. गीतार्थ सग्रह – आचार्य यामुन- तिरुमलाई वेंकटेश देवस्थान ट्रस्ट, तिरुपति (अन्ध्र)

25. छान्दोग्योपनिषद् – गीता प्रेस गोरखपुर।

26. जयाख्य–सहिता – गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा।

27. तत्वार्थ सूत्र – उमास्वामी–चौखम्भा सस्कृत सीरीज वाराणसी।

28. तैत्तिरीयोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर।

29. न्याय दर्शन (वात्स्यायनभाष्य) – चौखम्भा सस्कृत सीरीज वाराणसी।

30. न्यायसिद्धाजन – वेदान्तदेशिक वारणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

31 नारद भक्ति सूत्र – राम कृष्ण मठ।

32 पंचदशी – विद्यारण्य स्वामी– वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

3 पद्म पुराण – सस्कृति संस्थान, बरेली।

34 प्रपन्नामृत – अनन्तसूरि– वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

35 प्रश्नोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर।

36 पूर्णप्रज्ञभाष्य – मध्वाचार्य– निम्बार्कपीठ, प्रयाग।

37. ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य – सत्यानन्द सरस्वती, गोविन्द मठ, टेढीनीम वाराणसी।

38 ब्रह्मसूत्र श्रीकरभाष्य – श्रीपति पण्डित, ब्रेगलूर।

39 बृहदारण्यकोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर।

40 बोधिचर्यावतार – बुद्धविहार लखनऊ।

41 भक्ति चन्द्रिका – नारायणतीर्थ–वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

42 भक्ति रसायन – मधुसूदन सरस्वती, मोती लाल, बनारसीदास वाराणसी।

43 भक्ति का विकास – डॉ० मुन्शी राम शर्मा–चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी।

44 भागवत सम्प्रदाय – प० बलदेव उपाध्याय,–नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

45. भारतीय दर्शन – प० बलदेव उपाध्याय,–शारदा मन्दिर, काशी।

46. भारतीय दर्शन–(भाग 1 व 2) – डॉ० एस० एन० दास गुप्ता, राजस्थान ग्रन्थ, अकादमी जयपुर।

47 मनुस्मृति – सस्कृति सस्थान बरेली।

48. महाभारत – गीता प्रेस, गोरखपुर।

49. माण्डूक्योपनिषद (कारिकासमेत) – गीता प्रेस, गोरखपुर।

50	मुण्डकोपनिषद्	–	गीता प्रेस, गोरखपुर।
51	मीमासादर्शन	–	सस्कृति सस्थान, बरेली।
52.	यतीन्द्रमतदीपिका	–	श्रीनिवासाचार्य,श्रीरगनाथ प्रेस, वृन्दावन।
53	रहस्यरत्नजातम	–	वेदान्त देशिक– राजस्थान प्रेस कलकत्ता।
54	रामचरित मानस	–	गोस्वामी तुलसीदास गीता प्रेस, गोरखपुर।
55.	वाल्मीकि रामायण	–	गीता प्रेस, गोरखपुर।
56.	विष्णु–पुराण	–	सस्कृति सस्थान, बरेली।
57	वेदान्तदीप	–	आचार्य रामानुज–विद्याविलासप्रेस, वाराणसी।
58.	वेदान्तसार	–	आचार्य रामानुज–विद्याविलासप्रेस, वाराणसी।
59	वेदार्थ सग्रह	–	आचार्य रामानुज तिरूपति देवस्थान ट्रस्ट तिरमति (आन्ध्र)
60	वैखानस आगम	–	तिरूमलाई तिरूपति देवस्थान ट्रस्ट तिरूपति (आन्ध्र)
61	वैखानस धर्मसूत्र	–	तिरूमलाई तिरूपति देवस्थान ट्रस्ट तिरूपति (आन्ध्र)
62.	वैष्णव सम्प्रदाय का प्राचीन इतिहास	–	श्री एस० के० आयंगर।
63	वैष्णवमताब्जभास्कर	–	स्वामी रामानन्द खेतराज कृष्णदास वेंकटेश्वर, प्रेस, बम्बई।
64	श्वेताश्वतरोपनिषद्	–	गीता प्रेस, गोरखपुर।
65	शतदूषणी	–	वेदान्तदेशिक–वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला– कॉची।
66	शिवपुराण	–	संस्कृति सस्थान–बरेली।
67	श्री भाष्य–आचार्य रामानुज	–	निम्बार्कपीठ, प्रयाग।
68	श्रीभाष्य श्रुतप्रकाशिका सुदर्शनसूरि (गूढार्थ सग्रह सहित)	–	वेदान्त दशिक विहार सभा मैसूर।
69.	श्रीभाष्य तत्वटीका	–	वेदान्त देशिक –उभय वेदान्त ग्रन्थमाला, मद्रास।
70	श्रीभाष्य–भाष्यार्थ दर्पण	–	वीर राघवाचार्य उभयवेदान्त ग्रन्थमाला, मद्रास।
71.	श्री मद्भगवतद्गीता (शाकर भाष्य)	–	गीता प्रेस, गोरखपुर।
72	श्री मद्भगवतगीता (रामानुजभाष्य) (रामानुज भाष्यतात्पर्यचन्द्रिका सहित)	–	वेदान्त देशिक आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना।

73 श्री मद्भागवत्गीता गूढार्थ सग्रह – मधुसूदनसरस्वती–निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

74 श्री भागवत पुराण – गीता प्रेस गोरखपुर।

75 स्तोत्ररत्न–आचार्य यामुन – श्री वैष्णवाश्रम, दारागज प्रयाग

76 सर्वदर्शन–सग्रह – माधवाचार्य–चौखम्भा भवन, वाराणसी।

77 सहस्रगीति – लिबर्टी मुद्रणालय, मद्रास।

78 साख्यकारिका ईश्वरकृष्ण – चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

79 सिद्धित्रय–आचार्य यामुन – निर्णय सागर प्रेस–बम्बई।

80. भारतीय दर्शन – चन्द्रधर शर्मा,

81. बौद्ध–दर्शन और वेदात – चन्द्रधर शर्मा

82 भारतीय दार्शनिक निबन्ध – बदिष्टे

83 भारतीय दर्शन – डॉ० नदकिशोर देवराज

84 भक्ति सुधा – स्वामी करपात्री जी महाराज।

85 भक्तिरसामृतसिन्धु – स्वामी करपात्री जी महाराज